और किसे ?

स्वर्गमें सुना है देवता रहते हैं और जन्नतमें फरिश्ते, पर मैं तो मनुष्यको ही देवता और फरिश्ता मानकर जीता रहा।

मनुष्यकी सेवा मेरा धर्म, मनुष्यका प्यार मेरी खुशी, मनुष्यमें देवत्वकी दीप्तिका दर्शन मेरा साहित्य और संक्षेपमें मनुष्यता ही मेरा मिशन रहा।

मेरे साधनहीन जीवनकी सबसे बड़ी सम्पदा मनुष्यके प्रति मेरी अखण्ड निष्ठा रही और यही मेरी शक्ति भी!

मनुष्यका चोगा पहने दोजखके कीड़े भी मुझे मिले और मरघटोंके भूत भी। शिकायतकी कोई बात नहीं कि उन्होंने मुझे नोचा-खसोटा भी और कभी-कभी तो ऐसा भी हुआ कि यह नोच-खसोट इस सीमा तक गई कि मनुष्यके प्रति मेरी निष्ठाकी बेल ही मुझे सूखती दिखाई दी।

जीवनकी इन ज्वालामुखी घड़ियोंमें, पिछले वर्षोंमें मुझे मेरे सहृदय और निष्काम बन्धु श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन और उनकी पत्नी श्रीमती रमारानीजीके स्मरण-सम्पर्कने सदा ही वह मधुर सरसता दी कि निष्ठाकी वह सूखती बेल लहलहा उठी।

इस स्थितिमें मैं अपने ये तारे और फूल और किसे समर्पित करूँ, क्योंकि इनमें मेरी मानव-निष्ठाके उच्छ्वास और निःश्वास ही तो हैं?

क० ला० 'प्रभाकर'

पाठकोंको बधाई

हिन्दीमें किसी पुस्तकका नौ महीनेमें दूसरा संस्करण होना, ऐसा ही है, जैसा किसीके घर नौ महीनेमें ही दूसरे बालकका जन्म !!!

आज जब 'आकाशके तारे : धरतीके फूल' के साथ यह हो रहा है, तो मैं सोच रहा हूँ—दस वर्ष बाद जब हिन्दीका बाज़ार इतना विस्तृत हो जायगा कि किसी लोकप्रिय पुस्तककी लाख-पचास हज़ार प्रतियाँ सालमें बिक जाना एक आम बात होगी, तो मेरी यह उक्ति एक आश्चर्योक्ति हो जायगी ?

वह दिन शीघ्र आये; आज तो यह मेरे पाठकोंकी एक विजय है और इसपर मैं उन्हें बधाई देता हूँ।

—लेखक

*

और यह है वन्दना

अच्छी संख्यामें छपा दूसरा संस्करण भी पाठकोंकी आलमारियोंमें पहुँच गया और यह है तीसरा संस्करण। गुजराती, मराठी, बंगला, तमिल, उर्दू, अंगरेज़ी और डच भाषाओंमें भी कुछ तारे झिलमिलाये और कुछ फूल मुस्कराये।

तीसरे संस्करणमें कुछ कहानियाँ निकाल दी हैं, जो कहानीसे अधिक गद्य काव्य थीं और उनकी जगह नई कहानियाँ रख दी हैं। इससे संग्रह पहलेकी अपेक्षा पुष्ट हो गया है। और बस अब फिर पाठकोंकी चीज़ उनके हाथोंमें है, मेरी वन्दनाके साथ।

—लेखक

कहाँ क्या है ?

कहानियोंकी कहानी ७	२२. तृप्ति और अतृप्ति ५२
१. नन्दन ११	२३. सुराही और प्रतिमा ५४
२. झोंपड़ी १४	२४. वे तीनों ५६
३. कवि की पत्नी १६	२५. उनकी वाणी ५७
४. सती १८	२६. उदार ५८
५. पहचान २०	२७. एक प्रश्न ६१
६. आकाशवाणी २१	२८. मृत्यु की चिन्तामें ६३
७. कलाकारका स्वप्न २२	२९. शास्त्रीजी ६४
८. सौदा २५	३०. डाकू और फ़ौज़ी ६५
९. टहनियाँ २६	३१. शृंगार ६७
१०. संसारकी साक्षी २७	३२. चूहड़ ६८
११. असफलता २९	३३. नन्दा ७०
१२. मध्यस्थ ३२	३४. दो घोड़े ७१
१३. और तू ! ३३	३५. रसोइयाजी ७३
१४. तीन गुत्थियाँ ३४	३६. कमला ७५
१५. पेड़की पीड़ा ३६	३७. जीवनका ज्ञान ७६
१६. ग़नीमत हुई ३९	३८. सुखनन्दन माली ७७
१७. प्रश्नोत्तर ४१	३९. मैं जान गया ७९
१८. लाल त्रिजार ४३	४०. भिखारी ८०
१९. योजना ४५	४१. क, कि, की, ८३
२०. पुरस्कार और दान ४७	४२. दो साधक ८४
२१. कम्पा और चम्पा ४९	४३. वे दोनों ८६

४४. दो मेमने ८७
४५. आरम्भ ८८
४६. भोजन या शत्रु ! ८९
४७. पेंसिल स्कैच ९१
४८. असन्तोष ९२
४९. झरना हँसा ९३
५०. दो बहनें ९४
५१. धन्नू भगत ९५
५२. छोटे वृक्ष ९७
५३. क्यों रो रहे हो ? ९८
५४. दिनचर्या १००
५५. लारी और बैलगाड़ी १०२
५६. मनुष्य १०३
५७. तीन मित्र १०३
५८. किसके चरणोंमें १०४
५९. बन्दूक १०५
६०. वृद्ध और युवक १०५
६१. रण-दुन्दुभि १०६
६२. सामने और पीछे १०६
६३. उन्नति १०७
६४. इंजीनियरकी कोठी ११०
६५. दो मित्र ११२
६६. रामनाम सत्य है ११२
६७. मेरा घर ११३
६८. अन्धोंका जुलूस ११४
६९. रजकण ११६
७०. दियासलाई ११७
७१. भला क्यों ? ११८
७२. काँचका जौहरी ११९

कहानियोंकी कहानी

ये छोटी कहानियाँ हैं और इनकी भी एक कहानी है, जो आज पहले-पहल आपसे कह रहा हूँ।

१६२८ में किसी मासिक पत्रिकामें छपा एक लेख पढ़ रहा था कि एक उद्धरण आया—"सम्पूर्ण जीवनका सम्पूर्ण चित्र उपन्यास है और एक घटनाका सम्पूर्ण चित्र कहानी।" यह शायद कार्लाइलकी राय थी। पढ़ना बन्दकर मैं सोचने लगा, तो एक प्रश्न मुझमें भर गया—'जीवनकी यह एक घटना तो छोटी-से-छोटी भी हो सकती है, तो फिर कहानीके विस्तारकी छोटी-से-छोटी सीमा क्या है?'

यह प्रश्न मुझमें भर गया तो भरा ही रहा और १६२६ का वह समय आया, जब महाप्राण बापू देशके दौरेको निकले और मैं चन्देको चला अपनी जन्मभूमिमें। एक दिन एक धनपतिसे इस बारेमें बातचीत हुई, तो मैं प्रेरणा पा गया और मैंने अपने भीतर भरे उस प्रश्नके समाधानमें छोटीसे छोटी कहानीका यह पहला प्रयोग किया—

सेठजी

"महात्मा गान्धी आ रहे हैं, उनकी 'पर्स' के लिए कुछ आप भी दीजिये सेठजी!"

"बाबूजी, आपके पीछे हरसमय खुफिया लगी रहती है, कोई हमारी रिपोर्ट कर देगा, इसलिए हम इस झगड़ेमें नहीं पड़ते!"

"मैं रात-दिन चन्दा माँग रहा हूँ, जब मुझे ही पुलिस न पी गई, तो रिपोर्ट आपका क्या कर लेगी?"

ज़रा सोचकर हाथ जोड़ते हुए-से बोले—"अजी, आपकी बात और

है। हम कलक्टर साहबसे डरते हैं। आपकी बात और है। आपसे तो उल्टा कलक्टर ही डरता है।"

प्रसन्नतासे मैंने कहा—"तो आपही डरनेवालोंमें क्यों रहते हैं? कांग्रेसमें नाम लिखा लीजिये, फिर कलक्टर आपसे भी डरने लगेगा।"

सेठजीने दाँत निकालकर जो मुद्रा बनाई, उसकी ध्वनि थी—"हें, हें, हें!"

इसे लिखकर मुझे लगा कि कुछ मेरे हाथ लग गया है और इसी उत्साहमें मैंने इस तरहकी १०–१५ चीज़ें लिखीं। इनमें 'सलाम' का खूब प्रचार हुआ; जो इस प्रकार है—

सलाम

सर विलियम पहली बार हिन्दुस्तान आये। एक दिन कुलीने गाड़ीसे उतारकर उनका सामान वेटिंग रूममें रक्खा। अब उसकी हथेलीपर एक रुपया था।

उसने कहा—"हुज़ूर कम है!"

सर विलियम कुछ नहीं समझे। उन्होंने अपनी भाषामें कहा—"क्या कहते हो?" कुली कुछ नहीं समझा। फिर भी उसने दोहराया—"हुज़ूर, कम है!"

पास ही एक काला ईसाई बैठा था। उसने कुलीके हाथसे वह रुपया उठा लिया और चवन्नी उसके सामने फेंककर कहा—"सूअर!"

कुलीने चवन्नी उठाई और माथेपर हाथ लगाया—'सलाम हुज़ूर!'

सर विलियम सब कुछ समझकर बोले—"ओह, इण्डिया दी स्लेव कण्ट्री!" (हिन्दुस्तान एक गुलाम मुल्क!)

काला साहब रुपया लौटाते हुए बोला—"यस सर, यस सर!"

सलामकी सलामतीका नतीजा यह हुआ कि अब इनकी संख्या २० के लगभग हो गई।

●

साहित्यिक मित्रोंमें सबसे पहले अज्ञेयने इन्हें पूरी तरह सराहा । कहा कि यह हिन्दीकी छोटी कहानी है और कहानीके इतिहासमें इसे तुम्हारी नई देन माना जायगा, पर रघुकुलतिलकने इन्हें कहानी माननेसे इंकार करते हुए कहा—यह स्केच लिखनेकी कलामें एक नया प्रयोग है—निश्चय ही बहुत सुन्दर !

१९३५ में प्रेमचन्दजीको मैंने दोनों मत बताये और उनकी राय पूछी । स्वयं पढ़कर बोले—"शाबाश, यह एक नई कलम है, गद्यकाव्य और कहानीके बीच एक नई पौध, जिसमें गद्यकाव्यका चित्र और कहानी-का चरित्र है । खूब लिखो । जब इनका संग्रह छपे, तो याद दिलाना, मैं भूमिका लिखूँगा !"

अब मैं निश्चिन्त हो गया और जब-तब लिखता रहा । इस सम्बन्धमें इतनी स्पष्टता मुझमें है कि यह जो कुछ भी हो, मैं इस स्थितिमें नहीं हूँ कि गर्व कर सकूँ; क्योंकि मैंने इनके लिए कोई श्रम नहीं किया । किसीको राह चलते कुछ मिल जाये, तो यह एक चांस ही तो हुआ !

गोयलीयजीके तानों, तक़ाज़ों और घुड़कियोंके बल पर अब जो इनके प्रेस देखनेकी घड़ी आई, तो मैंने झाड़-पछोड़ की, जिसमें कुछ मँज गईं और कुछ छूट गईं ।

बस इन कहानियोंकी यही कहानी है, जो आज पहले-पहल आपसे कह रहा हूँ ।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

विकास लिमिटेड
सहारनपुर

नन्दन

[१]

नन्दन अपने गाँवका एकमात्र धनी था। सारे गाँवमें उसकी ऊँची हवेली दूरसे दिखाई देती थी। आस-पास चारों ओर उसका नाम फैला हुआ था।

उस दिन खबर उड़ी कि आज सन्ध्याके समय गाँवमें डाका पड़ेगा और खबर क्या उड़ी, मदोन्मत्त डाकू-सरदारने खुद ही यह खबर भेजी थी। गाँवमें और तो सब गरीब थे; डाकू भला उनका क्या लेते—क्या बिगाड़ते। उनके लिए तो गरीबी आज कवच थी। वे पूरी तरह निश्चिन्त थे कि डाकेका यह दिन नन्दनके नाम ही है।

नन्दन भी यह जानता था। वह उस दिन, दिन भर अपनी हवेलीके किवाड़ बन्द किये भीतर घुसा रहा। कैसे वह डाकुओंसे अपने माल, मान और प्राणकी रक्षा करे, यही उसकी चिन्ता थी।

उसने ज़ेवर और धन अपनी हवेलीके पीछेवाले उपवनमें जगह-जगह बखेर दिया। मोतियोंका हार नदीके किनारे रक्खा, तो सोनेकी बेरी कुएँमें डाल दी। गिन्नियाँ ग्वालके गड्ढेमें दबाईं, तो रुपयोंकी थैलियाँ बूढ़े बड़की खोखलमें भर दीं। यही उसने दूसरे क़ीमती सामानका किया।

उसकी हवेलीके पिछले हिस्सेमें एक बड़ा-सा गड्ढा था। उसमें वह स्वयं बैठा और अपने ऊपर उसने एक टूटा-सा टोकरा ढाँक लिया। सन्ध्या होते ही हवेलीका द्वार उसने खुलवा दिया और एक भी कमरा ऐसा न छोड़ा जिसका द्वार बन्द हो या जिसमें कुछ भी व्यवस्थित हो। उसे उस गड्ढेमें बैठे, टोकरीकी झिरझिरियोंसे सारी हवेली दिखाई दे रही थी।

दलबल सहित रातमें डाकू आये, तो वे सीधे नन्दनकी हवेलीपर

पहुँचे। उन्हें विश्वास था कि वहाँ एक पूरे युद्धकी तैयारी होगी, पर यहाँ तो द्वार खुले हुए थे। चौंकते-सम्भलते वे भीतर घुसे, पर हवेली तो बिखरी-सी पड़ी थी।

'भाग गया शैतान और सारी दौलत भी साथ ही ले गया।' डाकुओंके सरदारने कहा और वे सब हाथ मलते लौट गये। नन्दनका दिल पहले तो धड़कता रहा, पर अब मुसकरा रहा था।

[२]

दूसरे दिन गाँवके बड़े-बूढ़ोंने नन्दनके धैर्य और बुद्धिमत्ताकी प्रशंसा की, पर कई दिन बाद भी उन्होंने नन्दनको उसी गड्ढेमें अपनेको ढँके-बैठे देखा, तो उन्हें आश्चर्य हुआ।

उन्होंने उसे समझाया कि अब कोई खतरा नहीं है। अपने घरको फिरसे व्यवस्थित करो, अपनी सम्पदाको सुन्दर आलमारियोंमें सजाओ और स्वयं भी अपने सुखद पर्यंक पर सोना आरम्भ करो।

नन्दन सबकी सुनता है, सिर हिलाता है, पर मानता नहीं। कहता है—जिस पद्धतिने मेरे प्राण बचाये, धन-सम्पदाकी रक्षा की, उसका त्याग भला मैं कैसे कर सकता हूँ?

सब उसे समझाते हैं कि वह संकट-कालकी नीति थी। उस समय उसका व्यवहार करनेके लिए हम तुम्हारी प्रशंसा करते हैं, पर आज तो उसका पालन एक विडम्बना है। कल जो सुरूप था, आज वह कुरूप है। जब वह परिस्थिति ही नहीं, तो वह नीतिपद्धति कैसे ठीक रहेगी? उसे छोड़ो और अपना स्वस्थ रूप ग्रहण करो।

नन्दन बहस करता है और एक-से-एक बढ़कर तर्क खड़ा करके उस पद्धतिका समर्थन करता है।

सब देखते हैं कि उसकी सुन्दर हवेली सूनी और उजड़ी पड़ी है और उसकी धन-सम्पदा भी खोखरों-गड्ढोंमें बिखरी है। बात-चीतसे अनुमान

होता है कि अब वह यह भी भूलने लगा है कि कौन चीज़ किस खोखर या गड्ढेमें है, पर वह सन्तुष्ट है और स्वयं उस टेकरेसे हँके गड्ढेको ही अपना शयन-कक्ष बनाये हुए है।

श्रद्धामें डूबकर वह उन खोखरों—गड्ढोंको पुकारता है रीति-प्रीति और उस बड़े गड्ढेको कहता है—जन्म-कुल !

सब देखते हैं कि उसकी सुन्दर हवेली सूनी-उजड़ी पड़ी है, उसकी धन-सम्पदा उन गड्ढों-खड्डोंमें बिखरी है और वह स्वयं भी उस टेकरेसे हँके गड्ढेको ही अपना शयनकक्ष बनाये हुए है।

झोंपड़ी

रावकी अट्टालिकाके पास ही खड़ी थी रंककी झोंपड़ी। अट्टालिका आकाशसे इतरा-इठलाकर बातें करती; उसे अपनी विशालताका गर्व, तो उच्चताका दर्प !

झोंपड़ी पृथ्वीकी गोदमें सिमटी-दबी-सी, अपना अस्तित्व बचाये, जीवनके दिन बिताती; उसे अपनी लघुताका बोध, तो अशक्तिका भान !

अट्टालिका कभी झोंपड़ीकी ओर देखती, तो उसकी मुद्रामें झलकता लघुताका परिहास और झोंपड़ी कभी अट्टालिकाकी ओर सिर उठाती, तो उस पर स्वयं ही छा जाता, हीनताका आभास !

उस दिन प्रभातमें ही अचानक प्रकाशसे उठा तूफ़ान। पहले ही झोंकेमें झोंपड़ीके पाखे और छप्पर धरती पर आ-गिरे !

अट्टालिका ज्यों-की-त्यों खड़ी थी।

उसने झोंपड़ीका यह रूप देखा, तो कुछ उमर-सी उठी।

हँसी उसके ओठोंपर क्या बिखरी, रोम-रोमसे फूट चली। झोंपड़ी पड़ी कराह रही थी। यह हँसी उसने सुनी, तो कसक उठी, पर उसका कण्ठ स्वरहीन ही रहा।

सन्ध्याको रंक बाहरसे आया तो आये कुछ और भी रंक और तब हाथों-हाथ खड़े हुए पाखे और उठ टिका छप्पर। अब झोंपड़ी फिर ज्यों-की-त्यों खड़ी थी।

* *
*

उस दिन प्रभातमें ही धरतीसे उठा अचानक भूकम्प। पहले ही धक्केमें अट्टालिकाकी दीवारें खिल गईं, दूसरेमें डाटें चटकीं और तीसरेमें

छतें धरतीकी छाती पर इस तरह छितरा गईं कि जैसे ईंट-रोड़ेके अतिरिक्त वे कभी और कुछ थी ही नहीं !

राव आया, इधर-उधर घूमा । इंजीनियर आये, इधर-उधर घूमे, पर अट्टालिका जो औन्धेमुँह गिरी-सो-गिरी !

वह अब मलबेका ढेर थी, मलबेका ढेर ही रही ।

झोंपड़ी फिर ज्यों-की-त्यों खड़ी थी । उसने अट्टालिकाका यह रूप देखा, तो वह सिहर उठी, पर उसका कण्ठ स्वरहीन ही रहा !

कविकी पत्नी

कवि कुसुमका अभी हालमें विवाह हुआ था। पत्नी गाँवकी थी और अपढ़, पर रूप उसपर बरस पड़ा था। कवि उसमें लीन था—उसकी ग्रामीणता और अपढ़ताकी ओर ध्यान देनेका समय अभी उसे न था। आज रूपकी लहरोंमें तैरकर उसने एक मदभरा गीत लिखा था और वही आज उसने नगरके दीपोत्सवमें पढ़ा था। निर्णायकोंने उसे सर्वश्रेष्ठ ठहराया और प्रतिस्पर्द्धाका विशाल कप उसे भेंट किया।

उत्साहमें भरा कवि घर आया और चमत्कार-सा वह कप पत्नीके सामने रख दिया। पत्नी खिल उठी। उसका अन्तर उसके प्रश्नमें मुख-रित हो उठा—"कहाँसे लाये हो यह? बड़ा सुन्दर है।"

कविका मुख दीप्त हो उठा—"जीतकर लाया हूँ इसे!"

पत्नी शोक-सागरमें डूब गई। उसके मनकी व्यथा उसकी वाणीमें फूट पड़ी—"तब तो किसी दिन तुम मेरा ज़ेवर भी डुबा दोगे!"

"क्यों?" कविने विस्मयसे पूछा।

"और क्या? आज जीतकर यह खेल लाये हो, कल मेरा ज़ेवर दाव पर रक्खोगे। आज जीत है तो कल हार है।"

उसकी भ्रुकुटियोंमें क्रोध और आँखोंमें आँसू भर आये।

"मैं जुएमें जीतकर यह नहीं लाया पगली!"

उत्सुक हो, वह पूछ बैठी—"फिर और कहाँसे जीतकर लाये हो?"

(कविताका अर्थ पत्नी समझ नहीं सकती)

"कुश्तीमें जीतकर लाया हूँ", कविने कहा।

ऐं! कुश्तीमें!!" उसने पतिके सूखे हाथ और पतले पैर देखे और पूछा—"अच्छा, तुम कुश्ती भी लड़ते हो?"

"हाँ खास तरहकी कुश्ती लड़ता हूँ।"

पत्नी फिर विषादकी मुद्रामें स्थिर हो गई।

कविने कहा—"क्यों अब क्या हुआ ?"

"हुआ क्या; तुम मुझे खोओगे किसी दिन।"

"क्यों ? कुश्तीमें तो ज़ेवर नहीं जाते !"

"ज़ेवर नहीं जाते, तो क्या, हाथ-पैर तो टूटते हैं।"

"न मैं जुआ खेलता हूँ, न कुश्ती लड़ता हूँ। यह सब तो मैं तुमसे हँसीमें कह रहा था रानी !"

"फिर यह कहाँसे जीतकर लाये हो ?"

(कविताका अर्थ पत्नी समझ नहीं सकती)

"मैं गाने लिखता हूँ और लोगोंको गाकर सुनाता हूँ। खुश होकर वे मुझे इस तरहके इनाम देते हैं।"

"खैर, गाने जोड़नेमें तो कोई हर्ज नहीं। हमारे गाँवमें भी बंसी भीवर चौबोले जोड़ता है। होलियोंमें लोग उसे सिर पर उठाये फिरते हैं। तुम भी चौबोले जोड़ते होगे ?"

"हूँ !!" एक मरी-सी ध्वनिमें कविने कहा और पत्नीकी ओर देखा। पत्नीकी आँखोंमें गर्वकी प्रसन्नता फूट रही थी। पतिकी आँखोंमें आँखें डालकर उसने कहा—"अबकी होलियोंमें तुम हमारे गाँवमें चलना। रातको चौपालपर एक चौबोला तुम कहना, एक बंसी कहेगा। सच कहती हूँ, बड़ा मज़ा रहेगा।"

सती

दामोदर और झम्मो पति-पत्नी थे। नई-नई उमंगोंसे उभरा दिल लिये उन्होंने अभी-अभी घरकी दुनियामें प्रवेश किया था।

अचानक दामोदरको एक दिन हैज़ा हो गया। अपनी अन्तिम घड़ियोंमें उसने झम्मोसे कहा—"यह दस बीघे ज़मीन है, सारी उम्र तुम्हें रोटियाँ देगी। मैं तुम्हें कोई सुख न दे सका। भगवान् करें, अगले जन्ममें भी तुम मुझे मिलो।"

झम्मोने पूरी दृढ़तासे दामोदरकी ओर देखकर कहा—"अगले जन्मकी इसमें क्या बात है। मैं तुम्हारे साथ जो चल रही हूँ।"

दामोदर मर गया। झम्मो सती हो गई। अपनी दस बीघे ज़मीन उसने प्याऊ और मन्दिरके लिए दान कर दी।

× × ×

गाँववालोंने दोनोंकी अस्थियाँ चुन, एक सती-स्तूप बना दिया। उसके पास ही उग आया एक पीपलका छोटा-सा पेड़।

सतीने कहा—"दामोदर, तुम अपने इस नये रूपमें कितने सुन्दर लग रहे हो?"

पीपलने अपनी कोंपल बढ़ाकर सतीका स्तूप छू दिया। यह नये जीवनका प्रथम प्यार था।

यों ही सौ साल बीत गये।

× × ×

एक दिन आँधीमें पीपल गिर गया। सती अब भी ज्यों-की-त्यों खड़ी थी, पीपल उखड़ा पड़ा था। लम्बे-लम्बे साँसोंमें उसने कहा—"आज तुम

फिर इकली रह गई सती! हाय, कितने आरामसे रह रहे थे हम लोग!"

दो बड़े-बड़े आँसुओंसे सतीने कहा—"मैं अब क्या करूँ दामोदर, तब अपने हाथ-पैरोंपर अपना अधिकार था अब समयका है।"

सतीकी कुछ ईंटें खिसककर नीचे आ गिरीं। यह दोनोंकी यात्राके अन्तरका माप था?

पहचान

"मैं अपना काम ठीक-ठीक करूँगा और उसका पूरा-पूरा फल पाऊँगा !"

यह एकने कहा।

"मैं अपना काम ठीक-ठीक करूँगा और निश्चय ही भगवान् उसका पूरा फल मुझे देंगे !"

यह दूसरेने कहा।

"मैं अपना काम ठीक करूँगा। फलके बारेमें सोचना मेरा काम नहीं।"

यह तीसरेने कहा।

"मैं काम-काज और फल; दोनोंके झमेलेमें नहीं पड़ता, जो होता है सब ठीक है, जो होगा सब ठीक है।"

यह चौथेने कहा।

आकाश सबकी सुन रहा था।

उसने कहा—"पहला गृहस्थ है, दूसरा भक्त है, तीसरा ज्ञानी है, पर चौथा परमहंस है या अहदी; यह मैं नहीं कह सकता !"

आकाशवाणी

बूढ़की चाह थी कि बेटा तर्क न करे, उसके इंगित किये पथपर चले, पर बेटेका पथ अपने हृदयकी आकांक्षाओंकी ओर था। हर बातपर दोनोंमें मतभेद रहता। अपनी-अपनी रायमें दोनों ही सही थे!

एक दिन अपनी जरा-विकम्पित गर्दनको प्रयत्नपूर्वक रोकते हुए बूढ़ेने कहा—"मूर्ख, मुझे उपदेश करता है। गुना-गुना आठ दिन: कल ही तो तू पैदा हुआ था! तब मैं तुझे अपनी गोदमें न लेता, तो मांसके एक लोथड़ेकी तरह गीध तुझसे अपना त्योहार मना लेते!"

प्राचीनताके प्रति भीतर उमड़ी अवज्ञाकी बाढ़को प्रयत्न पूर्वक रोकते हुए युवाने कहा—"मैं नहीं चाहता कि तुम्हारी घिसी हुई अक्लके भरोसे पर चलूँ। मुझमें उमंग है, साहस है, मैं अपना पथ स्वयं निर्माण करूँगा!"

आकाश दोनोंकी बातें सुन रहा था। उसने अठखेलियाँ करतीं अपनी तारिकाओंसे कहा—"एकके पास अनुभव है और दूसरेके पास उत्साह, पर दोनों ही भटक गये हैं। बूढ़ेकी आँखोंमें 'कल' की कथा है, पर 'आज'-की शक्तिका अनुभव उसे नहीं हो पाता और युवा देखता है, केवल 'आज'-की ऊँची अट्टालिका, पर उसकी नींव रखनेमें 'कल' ने जो श्रम किया था, उधर उसकी नज़र नहीं जाती!"

बूढ़ा और युवक एक दूसरेको घूर रहे थे। आकाशकी बातें कब उन्होंने सुनीं?

कलाकारका स्वप्न

[१]

कलाकारके मनमें एक स्वप्न था कि वह एक आदर्श मूर्तिका निर्माण करे। अपनी इसी धुनमें वह रात-दिन लगा रहता और एकके बाद दूसरा प्रयास करता रहता। इन प्रयासोंमें उसकी कलाकी प्रगति प्रत्यक्ष थी, पर उसकी प्यास उससे न बुझी। उसके मनमें एक स्वप्न था कि वह एक आदर्श मूर्तिका निर्माण करे। उसका आदर्श इन प्रयासोंसे अभी बहुत दूर था। उसने अपने ही हाथों उन प्रयासोंको तोड़, मिट्टीमें मिट्टी मिला दिया।

एक दिन यों ही दर्पणमें उसने अपना मुँह देखा, तो उसकी दाढ़ीके कुछ बाल सफ़ेद हो चले थे। वह चौंक पड़ा। उसने सोचा—ओह, प्रयासोंमें ही यह यौवन बीत चला और मेरे आदर्शकी अभी झीनी झाँकी भी नहीं सजी!

कुछ क्षण वह स्तब्धतामें डूबा रहा और तब भड़भड़ाकर वह उठा। भीतर ही भीतर अँकुराया कोई राग गुनगुनाते हुए उसने अपने कमरेमें जल्दी-जल्दी और धीरे-धीरे कई चक्कर काटे। उसके पैरोंमें नृत्यका उल्लास था, मस्तिष्कमें सागरकी लहरें। सहसा वह ठहर गया और कुछ सोचता रहा। उसकी देह तन गई और बच्चोंकी तरह उसने दोनों चुटकियाँ एक साथ बजाईं। एक नई मूर्तिका निर्माण आरम्भ हुआ।

प्रभात और सन्ध्या, दिन और रात, मास और वर्ष, आये और चले गये, पर कलाकारको कलेण्डर देखनेका जैसे अवकाश ही न था। वह जीवित था, पर इस संसारमें न था।

पूरे पाँच वर्ष बाद एक दिन वह उठा। एक मूर्ति उसके सामने थी।

उसने घूर-घूरकर उसे देखा, परखा। उसमें कहीं कोई दोष न था। उसने उसपर दोषोंके आरोपका प्रयत्न किया, पर उसे सफलता न मिली। अपनी इस असफलतापर वह फूल उठा।

अब उसके जीवनका आदर्श उसके सामने था! वह उल्लासकी लहरोंमें तैर चला, पर संशयका एक काँटा अभी उसके मनमें चुभ रहा था-- 'जाने विश्वके पारखी लोग इस जीवन-साधनाका क्या मूल्य आँकेंगे!'

झिझकते-झिझकते उसने कुछ समझदार मित्रोंको अपनी कलाकृति दिखाई। वे सन्तुष्ट हुए और निर्णय हो गया कि कल इसे विश्वकी कला-प्रदर्शनीमें रक्खा जाय।

कलाकारने सोचा, कल मेरे जीवनका सबसे महान् दिन होगा। रातमें भी उसे कलाप्रदर्शनीके ही स्वप्न दीखते रहे।

[२]

प्रभातकी किरणें फूटीं, कलाकार जागा और उड़ा-उड़ा अपने कला-कुटीरमें गया। उसने वहाँ जो देखा, वह अविश्वसनीय था। उसने आँखें मलीं, बार-बार देखा, पर दृश्यमें अन्तर न आया।

किसीने रातमें उस मूर्तिके टुकड़े कर दिये थे। धरतीपर मिट्टीके नहीं, कलाकारके कलेजेके ही टुकड़े बिखरे पड़े थे। घटनाको हुए युग बीत गया, पर वे टुकड़े फिर एकत्रित न हुए। कलाकुटीरमें आज भी वे त्यों के त्यों बिखरे पड़े हैं और कलाकार वहीं बैठा उन्हें प्रायः देखा करता है।

पड़ोसी उसे झक्की कहते हैं और बच्चे पागल। कभी-कभी कोई पुराना साथी आता है, तो समवेदनासे कह उठता है—"कलाकार, फिर एक बार प्रयत्न करो और नई मूर्ति बनाओ!"

कलाकार उस साथीकी ओर बस सूनी आँखों देखा करता है, बोलता कुछ नहीं।

शैतान लड़के जो अक्सर उसे झरोखोंसे झाँका करते हैं, कहते हैं कि साथीके जानेपर कलाकार आप ही आप बड़बड़ाया करता है—"नई मूर्ति !......हुँ......और नई मूर्ति बनाओ !"

कभी-कभी ज़ोरसे जैसे वह अपने साथीसे कह रहा हो, पुकार उठता है—"है तो यह मूर्ति; फिर और नई मूर्ति क्यों बनाऊँ ?"

और बस फिर धरती पर पड़े उन टुकड़ोंकी ओर देखने लगता है। ये टुकड़े ही अब शायद उसका स्वप्न हैं !

सौदा

अपना सर्वस्व पूजाकी थालीमें सजाये-संजोये वह अपने आराध्यके निकट आया।

"मेरे देव, मेरा समर्पण स्वीकारकर मुझे कृतार्थ करो।" प्रेमातुर हो, उसने पुकारा और चरणोंमें झुक गया।

क्षणोंके जाते घड़ियाँ बन गईं, पर उसके कानोंमें कुछ न पड़ा। न उसके मस्तकको किसीका स्पर्श ही मिला।

उसने जिज्ञासासे सिर उठाया और भौंचक हो देखा—उनसे एक सौदागर लेन-देनकी बातें कर रहा था और वे उसमें डूबे हुए थे।

एक धमाकेके साथ उसका हृदय टुकड़े-टुकड़े हो गया।

धीरे से वह उठा और धीमेसे वह चला।

किसीने कहा—"अरे, अपनी थाली तो उठा ले।"

वह बुदबुदाया—"तब मेरा समर्पण भी तो एक सौदा ही रह जायगा।"

टहनियाँ

हरे-भरे कोमल पत्तों और सुन्दर सुमनोंके गुच्छोंसे लदी टहनियोंने तनेसे कहा—"हम कितनी सुन्दर हैं ?"

प्रश्नकी प्रतिक्रियाको भीतर ही पचाकर, संयत स्वरमें तनेने कहा—"हाँ, बेटी, तुम बहुत सुन्दर हो।"

सौन्दर्यका दर्प इससे तृप्त न हो पाया। वह अपनी महत्ताका स्वीकार तो चाहता ही है। दूसरेकी हीनता-स्वीकृति भी वह आवश्यक मानता है।

"और तुम कितने कुरूप हो जी! काला भूत-सा रंग और खुरदरी खाल। छिः!"

प्रतिक्रिया कण्ठतक भर आई। फिर भी अपने को यथासम्भव मसोस-कर तनेने कहा—"हाँ बेटी, मुझमें सौन्दर्य नहीं है, पर जिस सौन्दर्यपर तुम इतरा रही हो, उसके आधार-रसका भण्डार भगवान्‌ने मुझे ही दिया है। मैं उसका जूठन तुम्हें न दूँ, तो तुम्हारा यह सौन्दर्य कुछ ही पलोंमें बिखर जाये!"

हवाके झोंकोंमें लिपटकर टहनियाँ आकाशकी ओर देखने लगीं। फूलोंकी कुछ पंखड़ियाँ झरकर तनेके पास आ गिरीं।

क्या टहनियाँ रो रही थीं?

संसारकी साझी

दीमकने महीनों मर-मरकर अपने लिए एक घर बनाया—वाशिंगटनके विख्यात होटलकी ऊँची अट्टालिका-सी, जाने कितनी मंजिलोंकी वाम्बी और उसमें अपने नित बढ़ते परिवारके साथ रहने लगा—सुखसे, सुविधासे। उसमें सभीके लिए पृथक्-पृथक् स्थान था। विश्वके कलाकारोंकी अभिरुचिसे अछूती यह वाम्बी एक पूरा संसार था—प्यार और सुखकी कोमल भावनाओंसे भरपूर।

साँप बेघर था। वर्षामें वह भीगता, धूपमें जलता और धूलमें परेशान होता, एक दिन धीरेसे आकर वह वाम्बीसे बैठ गया। दीमकने अतिथि समझकर उसका स्वागत किया।

साँपने फुफकारकर कहा—"क्षुद्र दीमक! मुझे तुम्हारी कृपाकी आवश्यकता नहीं है। मैं अपने इस घरमें सुखसे रहना चाहता हूँ। तुम अब अपना रास्ता देखो!"

"तुम्हारा यह घर कहाँ है भाई, यह तो मेरा है। इसे बनाकर अभी तो मेरी थकान भी नहीं उतरी। मैं इसे छोड़कर और कहाँ चला जाऊँ?"

साँपने अपनी दोनों जिह्वाएँ लपलपाईं और दीमकके कुछ सुकुमार शिशुओंको अपने पेटमें रख लिया।

"तुम जाओ जहन्नुममें! और न जाओ तो यहीं रहो। मैं बहुत दिन तक अपने भोजनकी चिन्तासे निश्चिन्त रहूँगा। मुझे तुम्हारे यहाँ रहनेमें भी कोई आपत्ति नहीं है मेरे दोस्त!"

दो-तीन और शिशुओंको सटककर साँपने कहा—"ओह, बड़े ही स्वादिष्ट हैं ये बताशे तो!"

× × ×

बाम्बीके बाहर एक बुढ़िया अपने बच्चेसे कह रही थी—"जोड़ हाथ; नागदेवताकी बाम्बी है यह !"

शैतानियतसे मुसकराकर साँपने दीमककी ओर देखा। दीमक दुःख और क्षोभसे अधमरा हो, बुढ़ियाकी ओर देख रहा था।

असफलता

सुधाकर मूर्तिकार था।

पच्चीस वर्षोंतक वह पहाड़ों, नदियों, खण्डहरों और जाने कहाँ-कहाँ अपनी कला-साधनाके लिए भटकता फिरा। सच तो यह है कि ऐसा कोई कष्ट न था जो उसने नहीं भोगा, पर न कभी वह थका, न घबराया और यों एक दिन उसकी कला सिद्धिके द्वार आ लगी।

उसने एक पत्थर छाँटा और एक दिन उसपर पहली टाँकी लगाई। इसके बाद तो उसे याद ही न रहा कि कितने प्रभात आये, कितनी रातें बीतीं। वह लगा रहा—लीन रहा और जिस दिन उसने अपने हाथसे अपनी छेनी-हथौड़ी रक्खी, उसके सामने एक मूर्ति थी।

उसके बाल सफ़ेद हो गये थे, कमर झुक गई थी, आँखें चुँधिया गईं थीं। इस टुक-टुकमें जीवनके पच्चीस वर्ष और बीत गये थे!

राजा एक दिन उधरसे निकला और मूर्तिका मोल पूछने लगा। वह इसे अपने उपवनके फ़ौवारेपर रखना चाहता था।

"तुम्हें वेश्याओंमें रहते-रहते हर चीज़का मोल पूछनेकी आदत हो गई है राजन्!"

सुधाकरने घृणासे भरकर अपना मुँह फेर लिया।

राजा चला गया।

एक दिन नगरवासी एकत्र हो, उसके द्वार आये। वे सब सम्मिलित प्रयत्नसे उस मूर्तिके लिए मन्दिर बनानेको उत्सुक थे।

सुधाकरने कहा—"हाँ हाँ, ले लो, यह तुम्हारी ही तो है। बनाओ मंदिर, मैं भी जो बन पड़ेगा, उसमें मजूरी करूँगा"

"और इसका मूल्य भैया ?" डरते-डरते उन्होंने पूछा ।

"मेरी मूर्तिकी पूजा हो, यही मेरी पचास वर्षोंकी साधनाका मूल्य है, नागरिको !" उसने कहा ।

मन्दिर हाथों-हाथ उठता गया और उसमें एक दिन उस मूर्तिकी प्रतिष्ठा की गई । सुधाकरका जीवन उस दिन धन्य हो गया । उसे उस दिन ऐसा लग रहा था कि मन्दिरमें मूर्तिकी नहीं, उसकी प्रतिष्ठा हो गई है ।

सुधाकर तीर्थ-यात्राको चला गया ।

देश-प्रदेश विचरता वह एक वर्ष बाद लौटा, तो दौड़ा-दौड़ा मन्दिरमें गया । मूर्ति अपने स्थानपर विराजमान थी । धूप जल रही थी, प्रदीप प्रज्वलित थे, पूजा हो रही थी । भक्त प्रणत-वन्दनामें लीन थे । मूर्तिपर एक अद्भुत तेज छाया हुआ था ।

सुधाकर मूर्तिकी ओर एक टक देखता रह गया । पता नहीं वह किस सीमातक चेतनामें था ।

मूर्तिने कड़वी आँखोंसे सुधाकरकी ओर देखा और तभी उसके कानोंमें गूँज उठा यह तीखा प्रश्न—"क्या देख रहा है रे तू ?"

सुधाकर भूला-भूला, लाड़में डूबा-डूबा मूर्तिके पास आ रहा ।

तभी गरजकर मूर्तिने कहा—"पापी ! न फूल, न अक्षत, न आरती, न पूजा; पत्थर-सा खड़ा क्या देख रहा है ?"

सुधाकर एक दम स्तब्ध, काटो तो खून नहीं ।

फिर भी अपनेको पूरी शक्तिसे सम्भालकर एक बार उसने मूर्तिकी ओर देखा, पर तभी पड़ी उसके कानोंमें यह ललकार—"प्रणाम कर मूर्ख !"

सुधाकरने मुश्किलसे अपनेको समेटकर कहा—"जानती हो, तुम कौन हो ?"

मूर्तिने व्यंगसे हँसकर कहा—"मूर्ख, इतना भी नहीं जानता; मैं भगवान् हूँ !"

ठहरना अब असम्भव था। सुधाकर लौट पड़ा। सीढ़ियोंपर उतरते-उतरते उसने कहा—"हाँ, तू भगवान् है, पर ऐसा भगवान्, जो अपने निर्माताको भूल गया !"

और तब उसने एक लम्बी साँस ली। इस साँसमें उसने स्वयं ही सुना—"ओह, मैं तुम्हें पत्थरसे भगवान् तो बना पाया, पर हृदय न दे सका !"

मध्यस्थ

पुरुषने कहा—"मैं शक्तिका अक्षय भण्डार हूँ।"

नारीने कहा—"मैं सेवाकी अमल स्रोतस्विनी हूँ।"

पुरुषका अभिमान उमड़ आया। उसने कहा—"शक्तिका आश्रय ग्रहण किये बिना सेवाका अस्तित्व असम्भव है।"

नारीने नम्रतासे कहा—"यह ठीक है, पर यह भी तो ठीक है कि सेवाका सम्बल सम्भाले बिना शक्ति पैशाचिकताकी छाया है।"

वृक्षसे झरकर एक फूल दोनोंके मध्यमें आ गिरा। उसने कहा—"मैंने तुम्हारी बातें सुनी हैं और मैं अपने जीवनके सन्देशसे तुम दोनोंमें उठे विवादको शान्त कर सकता हूँ।"

"क्या है वह सन्देश?" दोनों पूछ उठे।

"शक्तिके सौन्दर्य एवं सेवाकी सुरभिका संगम ही जीवनकी पूर्णता है।"

नर और नारी दोनों एक दूसरेके निकट हो आये।

और तू !

नाम तो उसके कई हैं, पर मैं उसे लाड़में आदम कहता हूँ।

आजकल उसकी दिनचर्या इस प्रकार है—

सुबहसे सोनेतक वह गंगाकी बहती धारमें खूँटे गाड़ता है। खूँटा रखता है और मूँगरी उठाता है कि उसे ठोके, पर खूँटा है कि वह चलता है।

कभी-कभी वह बायें हाथसे खूँटा पकड़े रहता है कि दायेंसे उसे ठोके। ठोकता है कि खूँटा नीचे उतर जाता है और वह खिल पड़ता है कि चलो एक तो ठुका—अब वह आगे बढ़े, पर तभी देखता है कि सामने ही कुछ दूरपर वह खूँटा उचक आया है और बहा जा रहा है।

यों ही दिन ढल जाता है, रात आ पड़ती है, आदम सो जाता है। आकाश मुसकराता है, प्रभात फूटता है और आदम अपने खूँटे और मूँगरी लेकर अपनी जगह आ डटता है।

उसकी चाह है कि इस प्रवाहपर खूँटे थमें और वह अपना तम्बू उनके सहारे तानकर आरामसे उसमें सोये। सोये कि सोया ही रहे।

तटपर जाते जो भी उसे देखता है कि हँस पड़ता है और हँस पड़ता है कि आकाश उससे पूछता है—"और तू ?"

तीन गुच्छियाँ

"बोल, क्या लेगी इन तीनों गुच्छियोंका ?"

"तीन गुच्छियोंके तीन आने बहूजी; और क्या लूँगी कोई थेली रुपया !"

"दो आने ले, तो रख दे वहाँ तीनों गुच्छियाँ ।"

"आप तो राजा आदमी हैं बहूजी, एक आना आपके हाथका मैल है, तीन ही आने दे दो ।"

"ना, ना, मैं इन बातोंमें नहीं आया करती । तेरी सौ बार गरज़ हो, तो बेच, नहीं अपना रास्ता नाप !"

भाभी अपना कसीदा निकालने लगी । यह उसके अन्तिम निर्णयकी घोषणा थी । चमारीने आकुल आँखोंसे आकाशकी ओर देखा । सन्ध्या सिरपर मण्डरा रही थी । एक लम्बी साँस छोड़कर तीनों गुच्छियाँ उसने एक ओर रख दीं । ठन्नसे दो इकन्नियाँ उसके सामने फेंक दी गई । उन्हें उठाकर सुस्त-सी वह चल पड़ी ।

दुखी होकर रमेशने कहा—"तुमने इस ग़रीबका एक आना लूटकर बहुत बुरा किया भाभी !"

इसमें लूट-खसोटकी क्या बात है । यह तो सौदा है भैया !"

"जी हाँ, यह सौदा है" कुढ़कर रमेशने कहा—"उस बेचारीने तीन आनेके लिए तीन गुच्छियाँ बाँधीं । सन्ध्या न हो आती, तो वह तीन ही आने लेती । अब जाने बेचारीका कौन-सा काम रुका रह जायेगा !"

"ये आसमानी तार न जाने तेरे पास कहाँसे आया करते हैं !"

रमेशके कहनेसे काढ़ उसे बुला लाया । एक आना उसे देकर रमेशने कहा—"सच-सच बताओ बहन, दो आने लेकर तुम सुस्त क्यों हो गई थी ?"

करुणासे उसका गला रुँध गया। खाँसकर उसने कहा—"बाबूजी! घरमें बीस दिनसे लड़का बीमार पड़ा है और कई दिनसे बताशे माँग रहा है। चलते समय उसे कह आई थी कि बेटा, एक आनेका नमक और एककी मिरच तो लानी ही है। गुल्लियाँ तीन आनेमें बिक गईं, तो तेरे लिए बताशे ज़रूर लाऊँगी।

अब मैं सोच रही थी कि घर जाते ही वह बताशे माँगेगा और दुःखी होगा। वैसे तो बाबूजी, रोज कहाँ बच्चोंको मिठाई खिलाई जाती है, पर बीमारी-सीमारीमें तो बच्चेका मन रखना ही पड़ता है!"

रमेशने पावभर बताशे मँगवाकर उसके पल्लेमें डाल दिये। आशीर्वाद देती वह इकन्नी लौटा चली गई। मैंने भीगी आखोंसे देखा, उसका पैर अब ज़मीनपर नहीं पड़ रहा था—छातीसे बताशे चिपटाये; जैसे वह उड़ी जा रही थी।

अब भी वह कभी-कभी रमेशके घर आती है और उपलों, चनेकी गुल्लियों एवं गन्नोंके रूपमें अपने प्रेमका दान कर जाती है। भाभीकी अब वह एक सहेली-सी है।

पेड़की पीड़ा

यात्री धूपमें दूर से चला आ रहा था। गरमीमें झुलसा, प्याससे अध-मरा और लम्बी यात्रासे थका-मादा। जाने कैसे मनहूस रास्तेपर वह आज चढ़ चला कि न कहीं कोई कुआँ मिला, न छाया, न पड़ाव और न सहयात्री ही कि संकट सहल होता।

यात्रीको लगा कि वह अब घड़ी दो घड़ीमें ही गिर जायेगा और आकाशसे मण्डराते चील-गिद्ध उसे जीतेजी ही नोच खायेंगे।

भय उसके मनके चारों ओर कुछ ऐसा छा गया कि चलते-चलते भी उसे लगा कि वह गिर गया है और गिद्ध उसे नोच रहे हैं।

भयविह्वल हो, उसने ऊपरको मुँह उठाया, तो उसे सामने मोड़पर ही एक हरा-भरा विशाल वट वृक्ष दिखाई दिया।

उसमें नया जीवन आगया और उसके गिरते पैर, उचककर उसे वटवृक्षकी छाया तक ले आये।

वटवृक्षके नीचे घनी छाया ही न थी; शीतल जलका स्रोत भी था। पानी पीकर प्राणोंमें प्राण आये और पैर पसारकर उसने एक झपकी ली, तो पैरोंने बल पकड़ा। सूर्य ढलवपर आया, धूप हल्की पड़ी, वह उठकर चलनेको खड़ा हुआ।

पेड़को थपथपाकर उसने कहा—"तुम्हारी कृपाका ऋण मुझपर आजन्म रहेगा; सचमुच आज तुम्हारी गोद न मिलती तो, मैं जीवित न रहता।"

पेड़ने कहा—"ठीक है, मैं भी तुम्हें पाकर जी उठा हूँ, धूप और थकानसे तुम्हारी जो गति हो रही थी, वही मेरी इस सुनसान इकलेपनसे। मुझे यह संसार अब तुम्हें पाकर बसा हुआ दीखने लगा है!"

"तब तो तुम मुझे बहुत याद करोगे पीछे ?" यात्रीने कहा, तो सहमकर पेड़ने पूछा—"क्या तुम जा रहे हो कहीं और ?"

"हाँ, मैं तो यात्री हूँ और मेरी मंज़िल अभी दूर है।" सुनकर पेड़के आँसू उमड़ आये और यात्रीको लिपटते हुए-से उसने कहा—"ना, ना, मैं भला तुम्हें कैसे जाने दे सकता हूँ !"

यात्री हँस पड़ा ज़ोरसे और तब उसने कहा—"मेरे भोले भाई, जो कहीं मार्गमें रुक जाये, तो वह यात्री कैसा ? हाँ, यह हो सकता है कि तुम मेरे साथ चलो। मैं तुम्हें अपने घर अपने बड़े भाईकी तरह रक्खूँगा और तुम्हें ज़रा भी कष्ट न होगा वहाँ।"

"मैं कैसे जा सकता हूँ कहीं: तुम देखते नहीं कि मैं पेड़ हूँ !"

"और मैं कैसे ठहर सकता हूँ कहीं: तुम देखते नहीं कि मैं एक यात्री हूँ !"

पेड़ने कोई उत्तर नहीं दिया, तो यात्रीने एक पैर आगे बढ़ाया और अत्यन्त कोमलतासे पेड़की ओर देखा।

पेड़ क्रोधसे काँप रहा था।

बहुत ही कड़वे होकर उसने कहा—"भूल गये तुम कृतघ्न, कि मैं तुम्हें अपनी छाया न देता, तो तुम कभीके मर गये होते !"

भीतर तक मीठे होकर यात्रीने कहा—"मैं उस कृपाको कैसे भूल सकता हूँ भाई ! विश्वास रक्खो, मैं जहाँ भी रहूँगा, तुम्हारा यश गाऊँगा।"

कहीं दूरसे आशाकी एक किरण-सी पाकर पेड़ने कहा—"मुझे यश की नहीं; तुम्हारी ज़रूरत है, गालियाँ ही चाहे देते रहो, पर मेरे पास रहो।"

यात्रीने कहा—"तुम पेड़ हो और न चलना तुम्हारी विवशता है। मैं यात्री हूँ और न रुकना मेरी विवशता है।"

और यात्री चल पड़ा; चलता ही गया।

पेड़ खड़ा सोचता रहा—"मैंने उसे नाशसे बचाया, क्या यही मुझे उसका बदला मिला ? कैसी रूखी है यह दुनिया !"

यात्री चलते-चलते सोचता रहा—"मैं पथके आश्रयोंको यों पकड़कर बैठा रहता, तो यहाँतक कैसे आता भला !"

पेड़ अपनी जगह खड़ा ही रहा ।

यात्री अपनी राह चलता गया ।

ग़नीमत हुई

राधारमण हिन्दीके यशस्वी लेखक हैं। पत्रोंमें उनके लेख सम्मान पाते हैं और सम्मेलनोंमें उनकी रचनाओंपर चर्चा चलती है। रात उनके घर चोरी हो गई। न जाने चोर कब घुसा और .उनका एक ट्रंक उठा ले गया—शायद जाग हो गई और उसे बीचमें ही भागना पड़ा।

राधारमण बहुत परेशान हैं। बार-बार उसके मुँहसे निकल पड़ता है—"हाय, मेरी तो सारी उमरकी कमाई चली गई!" वह पागल हुआ जा रहा है। बात हवा पर चढ़ी, पड़ोसमें .फैल गई—पचासों आदमी आ जुटे—एक भीड़ लग गई।

"अब हुआ सो हुआ। भगवान् और देगा। दुखी मत हो, सन्तोष कर बेटा!" बड़ेने सान्त्वनाके शब्द कहे।

कई तरुण कण्ठ एक साथ खुल पड़े—"राधे! आखिर चला क्या गया?"

"मेरेवाला ट्रंक चला गया और देखो, उसके पास ही किशोरीके जेवरका ट्रंक बच गया!"

"क्या था तुम्हारे ट्रंकमें?" उत्सुकता उमड़ पड़ी।

"पुराने मासिक पत्रोंकी कतरनें और मेरे तीन ग्रन्थोंकी पाण्डुलिपियाँ थीं। हाय, अब क्या होगा भगवान्!"

बूढ़ोंकी आकुलता शान्त हो गई। उन सबकी ओरसे ही जैसे, रमाशंकरने कहा—खैर, ग़नीमत हुई बेटा, कि .जेवर बच गया। काग़ज़ोंका क्या, फिर लिख लेना। तू तो रात-दिन लिखता ही रहता है।"

बिहारी दादाने पूर्ण सन्तोषकी मुद्रामें लौटते हुए कहा—"ले बोल, हम तो घबरा ही गये थे कि जाने क्या दौलत लुट गई !"

राधेने इधर ध्यान नहीं दिया। उसके कलेजेमें काँटा-सा चुभ रहा था—"खैर ग़नीमत हुई !" और वह सोच रहा था कि उसके ट्रंककी जगह किशोरी का ज़ेवर चला जाता, तो वह भी यही कह सकता था !

प्रश्नोत्तर

आज दफ्तरमें बड़े साहब आये, तो जैसे ज्वालामुखी फट पड़ी। बात कुछ न थी, किसीका कोई दोष भी न था, फिर भी वे बरस पड़े।

एक 'ऐन्ट्री' को देखकर चन्द्रभानसे बोले—"यह डाकखानेकी रकम फुटकर खर्चखातेमें क्यों चढ़ा रक्खी है?" और रजिस्टर उसके ऊपर दे मारा। उसने अपनेको सम्भाला और रजिस्टर साहबके सामने रखते हुए कहा—"इसकी 'डिटेल' देख लीजिये! यह रकम असलमें......"

बात बीचमें ही थी कि साहब चिल्ला पड़े—"रास्केल! जबान चलाता है। सूअर, हमको हिसाब देखना सिखायेगा।"

चन्द्रभान कहता है—मनमें आया, साहबकी नेकटाई पकड़ लूँ और दो ठोकरें जमाऊँ, पर नौकरी, श्रीमतीजी और बच्चे! खूनकी घूँट पीकर रह गया। साथके चार दूसरे बाबुओंकी भी यही दशा हुई।

पाँच बजे शामको जब दफ्तरसे चले, तो सब खामोश थे; जैसे अपमानकी उस घूँटको पचानेका प्रयत्न कर रहे हों। बड़े बाबू अनुभूतिकी तीव्रतापर विवश सन्तोष और निर्लज्जताके ताने-बानेसे बुना पर्दा डालते हुए बोले—"क्या करें भाई! इस कम्बख्त नौकरीके लिए सब कुछ सहना पड़ता है।" ज़रा रुककर, जैसे अपना मन समझा रहे हों, बोले—"बड़ा साहब, जबानका बड़ा ही कड़वा है, पर एक बात है—'इन्क्रीमेण्ट'के मामलेमें बहुत ही फराखदिल है।"

टी स्टॉल आ गया और सब चाय पीने लगे, पर चद्रभानके गले वह न उतरी और वह इधर-उधर देखने लगा। सामनेके गोल चक्कर पर कुछ मज़दूर अपना झावा लिये बैठे थे। सर्दी बहुत थी, वे सेक रहे थे पत्ते जलाये।

अपमानकी पीड़ामें उभरा एक प्रश्न चन्द्रभानके सामने आ गया—“मैं दफ्तरमें बाबू हूँ और ये मज़दूर। मेरा दफ्तर मुझे कोट-पतलून देता है, पर मैं इन्हें पहनकर जितना काँप रहा हूँ, उतने ही ये अपनी फटी चादरें लपेटे काँप रहे हैं। इस नौकरीसे समाजमें इन मज़दूरोंकी अपेक्षा हमारी अधिक प्रतिष्ठा है, पर दफ्तरमें तो रोज़ जूते ही खाने पड़ते हैं। फिर इस नौकरीमें ही क्या विशेषता है ?”

इसी समय उसके पाससे निकलकर एक नया मज़दूर उन मज़दूरोंमें जा मिला।

“आज कहाँ रास्ता भूल आया भाई ?” एक मज़दूरने उससे पूछा। “आज ठेकेदारका जनाज़ा निकाल आया। बदमाश माकी गाली देता था। मैंने भी आज रोड़ियोंपर डालकर ऐसा रगड़ा कि बेटा तीन दिन हल्दी पियेगा।” अभिमानसे उसका चेहरा खिल रहा था।

“अरे भाई, अच्छी नौकरी थी। यों ही झगड़ा मोल लिया” पहले मज़दूरने समझाया।

“अरे भाई! दबें क्यों, जब अपनी मेहनतका खाते हैं! फिर भाई, रिज़क़का ठेका तो रहीमने लिया है। नौकरी नहीं, तो अपना झावा तो है!” स्वावलम्बके भावसे उसका चेहरा भी खिल गया।

चन्द्रभानने मन ही मन अपने प्रश्नका स्वयं उत्तर दिया—“बस, दफ्तरकी नौकरीमें यही विशेषता है कि इसे छोड़कर आदमी फिर झावा नहीं उठा सकता!”

लाल बिजार

लाल बिजार गर्राया जवान था। अपने इलाकेमें वह जिधर निकल जाता, आतंककी आँधी आ जाती! अपने खेतसे उसे भगा देनेकी हिम्मत गाँवके किसी लठैतमें न थी। सामनेसे उसे आता देखकर, बड़े-बड़े लठैत कन्नी काट जाते थे।

बैलगाड़ी संसारमें उसकी सबसे बड़ी शत्रु थी। पहियोंकी घरघराहट, झांगकी घोर और घण्टियोंकी मीठी टुन-टुन सुनते ही उसका खून खौल उठता और वह जैसे आपेसे निकल चलता।

उस दिन वह उमंगसे दुम उभारे, खड़ा खेतमें चर रहा था कि ठाकुरकी गाड़ी उधर आ निकली। गर्दनको गर्वसे उभारकर उसने देखा और दो ही छलाँगोंमें वह गाड़ीके सामने आ गया।

घृणाभरी आँखोंसे बैलोंकी ओर देखकर उसने कहा—"तुम मेरी महान् जातिके कलंक हो, गुलाम! तुम्हें अपने बलिष्ठ कन्धोंपर दूसरोंका जुआ रखते शर्म नहीं आती!"

और एक ही झटकेमें उसने गाड़ी उलट दी।

× × ×

देहातसे मस्तीमें झूमता, पथ भूला-सा, वह एक दिन राजधानीमें घुस आया और म्यूनिसिपैलिटीमें पकड़ा गया। लाठियोंकी निरन्तर मार और भूखकी ज्वालामें उसकी सारी ऐंठ झुलस गई और नाथ डालकर, वह कूड़ा ढोनेकी गाड़ीमें जोड़ दिया गया।

लाल तड़पा, बिदका और मचमचाया, पर धीरे-धीरे उसे गाड़ीका जुआ, नाथके झटके और हण्टर सभीकी सहलत पड़ गई।

उस दिन वह बारह पैरोंका बोझा अपने चार बलिष्ठ पैरोंके बल

खींचे; खत्तेकी ओर जा रहा था कि ठाकुरकी वही गाड़ी उधर आ निकली। लाल्लूने गाड़ी और बैल दोनोंको देखा और अभिमानकी तीक्ष्णता स्वरमें लाये, नथने फुलाये, उसने कहा—"ठाकुरकी यह छिपटिया-सी गाड़ी कन्धोंपर चिपकाये, क्या इतरा रहे हो ? मेरा बोझ तुम दोनोंपर भी लद जाय, तो बच्चू, भेजा निकल पड़े !"

बैलोंकी आँखोंमें उपहास फूट पड़ा—"जीवनका असली तत्त्व तुमने शायद अब समझा है लाल्लू मियाँ !"

योजना

एक हैं धनपति, एक हैं निर्धन; दोनों पड़ौसी। धनपतिकी दो कन्याएँ—बड़ी शारदा, छोटी सुधा। निर्धनकी एक कन्या—ईश्वरी। सुधा और ईश्वरी सहेली—जैसे जीवनमें सदा ही उन्हें एक होकर रहना हो!

धनपति और निर्धन, दोनों पड़ौसी, सार्वजनिक कार्यकर्ता और धनपतिकी पत्नी भी महत्त्वाकांक्षी। उस दिन वे बोलीं—"सोचती हूँ अगले नववर्ष पर पाँच हज़ार रुपये दे, अपने विद्यापीठका आरम्भ कर ही दूँ!"

तीनों लड़कियोंने उनकी बात सुनी। शारदाने वर्तमानके दर्पणमें भविष्यका एक स्वप्न-सा देखते हुए कहा—"अभी तो नहीं, पर एक विद्यापीठ मैं भी आरम्भ करूँगी और उसे पचीस हज़ार रुपये दान दूँगी।"

सुधा और ईश्वरी चुप रहीं, पर दूसरे दिन उन्होंने कहा—"हम भी एक विद्यापीठ खोलेंगी।"

"अच्छी बात है, पर कैसे खुलेगा आपका विद्यापीठ?" ईश्वरीके पिताने लाड़से पूछा।

जल्दीसे सुधा बोली—"हम दोनों नदीके तटपर किसी गाँवके पास एक पेड़के नीचे जा बैठेंगी। मैं तो एक पेंटिंग बनाऊँगी और ईश्वरी एक छप्पर शुरू करेगी। पेंटिंग जब बन जायेगी तो हम दोनों गाँवमें जाकर वह पेंटिंग बिना कुछ लिये ही किसी दूकानपर सजा देंगी। इसी तरह तीन-चार पेंटिंग बनाकर हम जगह-जगह गाँवमें लगा देंगी। इससे गाँवके तमाम बच्चे हमें जान जायेंगे और हमारे पास आने लगेंगे। हम दोनों उन्हें पढ़ाने लगेंगी और छोटे-छोटे पेंटिंग बनाकर भी देंगी।

सब बच्चोंके मा-बाप कहेंगे—"कैसी अच्छी हैं ये लड़कियाँ।" वे

हमारा छप्पर जल्दी-जल्दी बनवा देंगे और इस तरह हमारा विद्यापीठ खुल जायेगा।"

सुधा चुप हो गई। छोटी-सी ईश्वरीने कहा—"क्यों पिताजी, है न ठीक बात? आप भी हमारे विद्यापीठमें आया कीजियेगा!"

ईश्वरीके पिताने दोनोंको खींचकर अपनी गोदमें ले लिया। उनकी आँखें बन्द हो गईं और उन्होंने दोनों बच्चियोंको चूम लिया।

सुधाके पिता भी वहीं बैठे थे। उनसे वे बोले—"क्या हमारे राष्ट्रके नव-निर्माणकी सबसे बड़ी योजना यही नहीं है?"

वे भी भावविभोर हो दोनों बच्चियोंको देख रहे थे!

पुरस्कार और दान

सेठ मगनीरामकी पत्नीका आपरेशन सिविल अस्पतालमें क्या हुआ, वहाँ एक मेला जुड़ गया। प्राइवेट वार्डके दो कमरे तो उन्होंने लिये ही थे, उनके सामने एक शानदार शामियाना भी ताना गया। यह शामियाना अपने नीचे बिछी कोच-कुरसियोंके कारण नाचघर-सा हो गया। असलमें यह कुशलक्षेम पूछनेको आनेवालोंके बैठने-उठनेकी व्यवस्था थी। मोटरोंकी तो अस्पतालमें नुमायश ही लग गई। सबसे पुराने कम्पाउण्डरका कहना है कि अस्पतालमें ऐसी चहल-पहल तो तब भी न हुई थी, जब अँगरेज़ गवर्नरने इसका उद्घाटन किया था।

बड़े डाक्टर दिनमें दो बार सेठानीजीके पास आते थे। दो-तीन बार तो उनकी श्रीमतीजी भी समाचार पूछने आईं। दूसरे डाक्टर तो समझिये कि उन्हें लिपटे ही रहते थे। कम्पाउण्डरोंका तो यह हाल था कि जैसे वे सेठजीके निजी नौकर ही हों।

सबकी साधना सफल हुई और सेठानीजी उठ बैठीं। सेठजी तो आज आपेमें ही न थे। उनका हृदय निकलकर फिर अपने स्थानपर लौट आया था। वे धनपति थे। कमाना जानते थे, तो खर्च करना भी।

उन्होंने बड़े डाक्टरको दो सौ पचास रुपयेका फ्रांसका बना चाँदीका एक फूलदान भेंट किया और दोनों डाक्टरोंको सौ-सौ रुपयेकी घड़ियाँ।

पाँचों कम्पाउण्डरोंको उन्होंने दस-दस रुपये दिये और भंगी-भिश्तीको दो-दो रुपये।

पुरस्कारके साथ ही सेठजीने दान भी किया। कोई सौ भिखारियोंको तेलका एक-एक पराँवठा दिया गया और अस्पतालके आपरेशन-रूमको

एक घड़ी, जिसके डायलपर सेठजीका नाम सुन्दर अक्षरोंमें लिखा गया था।

शामियाना उखाड़नेवाले मज़दूरोंने जब कुछ माँगा, तो बड़े मुनीमजीने उन्हें डाट दिया कि यह काम शामियानेवाले दूकानदारका है, कुछ हमारा नहीं।

और सेठजी अपने घर चले आये।

कम्पा और चम्पा

कम्पाके पड़ौसमें एक पेड़ जाने कब उगा और पनपकर बड़ा हो गया, पर जब ढलते पहर उसकी छाया कम्पाके द्वार पड़ने लगी, तो उसने जाना कि वहाँ एक पेड़ है और उसके साथ उसका भी कुछ सम्बन्ध है।

पेड़ क्या, वह सुगन्धका स्रोत था। उसके पत्तोंमें सुगन्ध थी, फूलोंमें सुगन्ध थी, छालमें सुगन्ध थी। पवन उसके पाससे निकलती, तो सुगन्धसे उसका आँचल भर जाता। सच यह है कि जीवनका एक सजीव स्तम्भ-सा खड़ा, वह सारे वातावरणको सरस किये रहता।

अब उसे कम्पा पानीसे सींचती और बैल-बकरियोंसे बचाती। कभी-कभी अपनी छोटी-सी खटिया, उसकी छायामें डाल वह सुख लेती। पास-पड़ौसका जो भी उधरसे निकलता, उससे भर-भर प्रशंसा करती; करती ही रहती। धीरे-धीरे सब उसे 'कम्पाका पेड़' कहने लगे। कम्पा यह सुनती और फूली न समाती, घरका कामधन्दा छोड़कर भी उसके नीचे बैठी रहती।

× × ×

एक दिन कहींसे आकर चम्पाने अपनी झोंपड़ी उस पेड़के नीचे डाल दी और रहने लगी। चम्पाकी झोंपड़ीपर पेड़की पूरी छाया रहती और झोंपड़ी हर समय सुगन्धसे भरी रहती। चम्पा उसमें सुखसे रहती। ऐसा सुख उसे जीवनभर न मिला था।

पड़ौसमें मतभेद पहले और मेल पीछे है। कम्पा और चम्पामें एक दिन अनबन हो गई। दोनोंका कहीं कुछ साझा-बाँटा तो था नहीं कि बटवारा हो जाता—उनके युद्धका केन्द्र वह पेड़ हो गया। कम्पाने चाहा कि

चम्पाकी झोंपड़ी यहाँसे खिसके और चम्पाने यत्न किया कि कम्पाकी खटिया पलभरको भी यहाँ न पड़े।

दोनों पेड़को अपना कहतीं, एकमात्र अपना बनाना चाहतीं, पर दोनों ही क्रोधमें उसको पत्तियाँ नोचतीं, छाल खींचतीं और व्यंग बरसातीं—कम्पाको तो कभी-कभी इतना क्रोध उभर आता कि चूल्हेसे जलती बटलोई उतार, वह उसपर उँडेल देती और वह तड़फकर रह जाता।

पेड़ दोनोंमें मेल-मिलाप करानेकी कोशिश करता, पर युद्ध उग्र होता जाता। वह समझता—मैं सोनेकी अँगूठी तो नहीं हूँ कि जिसने पहन ली, पहन ली। मैं तो विशाल वृक्ष हूँ; मेरी छायामें तुम्हारी दो ही नहीं, दो और भी झोंपड़ियाँ पड़ सकती हैं। सुरभि इतनी है कि तुम दोनों उसे समेट नहीं सकतीं—दूर-दूर रहनेवालों तक भी वह भरपूर पहुँचती है। फिर लड़ाई क्यों? मिलकर रहो, तो वह एक दूसरेकी शक्ति बढ़ाये और वह दोनोंके कुछ काम आये, पर इस तरह तो न तुम दोनों सुखी हो, न मैं ही।

पेड़की बातें दोनों सुनतीं, उन्हें ठीक भी बतातीं, पर मान न पातीं। जब-जब वह मेल-मिलापका प्रयत्न करता, एक नया विद्रोह फूट पड़ता। दोनोंका उत्साह युद्धमें बढ़ता रहा, पेड़को जीवनमें दिलचस्पी कम होती गई। पहले जो दुःख था, बादमें वही रोग हो गया। पेड़के पत्ते कुम्हलाने लगे, फूल मुरझाने लगे, सुगन्ध बासी पड़ने लगी और सूखा उसे दिन-दिन घेरने लगा, पर न इधर कम्पाका ही ध्यान था, न चम्पाका।

युद्ध एक दिन पूरे वेगपर पहुँच गया और चम्पा अपनी झोंपड़ीमें आग लगा, कहीं दूर देशको चली गई। कम्पा अब सूखते पेड़की छितरी छायामें खटिया डाले बैठी रहती है। कभी-कभी वह मीठी बातें कर पेड़को सरसता देनेका प्रयत्न करती है, पर भीतर इतना गुबार है कि बात मुड़-

तुड़कर पुराने युद्धपर चली जाती है और उसका अन्त कड़वाहटमें ही होता है।

कम्पा दुःखी है कि पेड़ नहीं खिलता; पेड़ दुखी है कि कम्पा मुर्झाई है। सुना है चम्पा भी जहाँ है दुःखी है। न किसीको रस दे पाती है, न किसीसे रस ले पाती है। पेड़की ही बातें सोचती रहती है।

यों एक मर रहा है और दो घुन रहे हैं, पर मैं प्रायः उस पेड़को देखता हूँ, तो सोचता हूँ दो मूर्खताओंके बीच एक विशालता बलि हो रही है और तभी मेरे मनमें आता है—बलि क्या यह तो वध है!

तृप्ति और अतृप्ति

[१]

रामा और श्मामा दोनों सगी बहनें हैं। रामाकी उम्र है कोई ६२ वर्ष और श्यामाकी यही कोई ६०के लगभग।

रामा एक नायब तहसीलदारके साथ ब्याही गई थी और अब उसका पुत्र ज़िलाधीश है। उसके सिरपर उसके पति हैं और गोदमें पोते-पोतियाँ—सुख उसपर चारों ओरसे बरस रहा है।

बुढ़ापा है, शरीर ठीक नहीं रहता, तो नये दिन नया डाक्टर आया ही रहता है। सभी डाक्टरोंसे वह यही कहती है—"मुझे अब जीकर क्या करना है डाक्टर साहब; अब तो यही सबसे बड़ा सुख है कि शान्तिसे आँखें मुँद जायें।"

डाक्टर आग्रह और अनुरोध करके दवाकी शीशी दे जाते हैं, लिहाज़ कर वह ले लेती है, पर शायद ही कभी शीशियोंकी डाट खुलती हो।

पति नाराज़ होते हैं, बेटा ज़िद करता है और बहू खुशामद, तो उत्तर मिलता है—"मुझे अब जीकर क्या करना है; अब तो सबसे बड़ा सुख यही है कि शान्तिसे आँखें मुँद जायें।"

जीवनका घट सुखके नीरसे परिपूर्ण है। बुढ़िया डरती है कहीं कोई बूँद धूलमें गिरती न देखनी पड़े!

[२]

श्यामा भी आजकल रामाके ही घर है। वह एक तहसीलदारसे ब्याही गई थी, पर छह साल बाद ही वह विधवा हो गई। सुखका देवता द्वार तक आया और लौट गया। दर्शन तो हुए, पर पूजाकी थाली सज न पाई।

बुढ़ापा है, छोटे-मोटे झटके आते ही रहते हैं, फिर भी स्वास्थ्य बुरा नहीं है। रामाको देखने डाक्टर आता है, तो श्यामा भी खम्भोंकी आड़ लेती, वहाँ तक आ पहुँचती है और बातों-बातोंमें अपनी नब्ज़ डाक्टरके हाथ थमा देती है।

उसकी मुख्य शिकायत होती है—"डाक्टर साहब, ऐसी दवा दो, जिससे गातमें रक्त बढ़े। जाने क्या घुन लग गया है कि गात गिरा-सा रहता है।"

डाक्टर जो दवा भेजते हैं, श्यामा उन्हें नियमसे खाती है और घी-दूधके बारेमें भी कभी असावधानी नहीं बरतती। बुढ़िया कहलाना उसे भला नहीं लगता और मृत्युके नामको भी वह अशुभ मानती है।

जीवनका खेत सूखा पड़ा है। बुढ़िया सोचती है कौन जाने कब आकाशकी कोई बदली एक फुँहार इधर छितरा दे!

सुराही और प्रतिमा

मनमोहन उस दिन बड़े चावसे एक सुराही खरीदकर लाया। उसमें उत्साह था कि वह अब ठण्डा पानी पियेगा और पास-पड़ौसके लोग भी उसकी सुराहीका ठण्डा पानी पी, अपनेमें कृतार्थ और उसके प्रति कृतज्ञ होंगे।

खुशी-खुशी उसने सुराहीमें पानी भरा और चावसे उसने एक बार उसे अपने हाथोंपर उठा लिया। पर उसका चाव तो पके पत्ते-सा झर गया; जब उसने देखा—यह सुराही तो पेन्देमें रिसती है।

वह सुस्त हो गया, पर तभी चुस्त होकर उठा कि चुटकीभर आटा गून्द लाया और उसे उसने पेन्देपर लौंट दिया।

सुराही काम देती रही।

मनमोहन उस दिन बड़े चावसे सरस्वतीकी एक प्रतिमा खरीद लाया और उसने उसे विधि-विधानके साथ अपने मन्दिरमें प्रतिष्ठित कर दिया।

उसमें उत्साह था कि अब उसकी साधना निरन्तर गतिशील होगी और पास-पड़ौसके लोग भी उसकी प्रतिमाका पूजन कर अपनेमें कृतार्थ और उसके प्रति कृतज्ञ होंगे।

उसने आरती जलाई और शंख बजाया। चारों ओरसे मैं-तू आ जुटे। भक्तिकी सुरभि चारों ओर फैल गई।

पूजाकर पास-पड़ौसी लौट गये, पर मनमोहन वहीं बैठा रहा। प्रतिमा औरोंके लिए पूजाकी वस्तु थी, पर उसका तो वह जीवनप्राण था। वह उसमें लीन-सा डूब रहा।

✤

बीचमें एक बार वह विभोर हो, प्रतिमाकी ओर उमड़ा, तो उसे बिजली-सी छू गई। भौंचक हो, उसने देखा—प्रतिमा खण्डित है। उसके पैरकी एक उँगली किर गई है।

वह एकदम शोकके समुद्रमें डूब गया।

अब वह चुपचाप मनमारा-सा मन्दिरमें बैठा रहता है। लोग पूजा करने आते हैं, तो वह प्रतिमाका पैर फूलोंसे ढक देता है। सब उसकी प्रशंसा करते हैं, पर उसका मन नहीं खिलता!

व्यंगसे साथी कहते हैं—"ऐसी प्रतिमाके चरणोंमें बैठकर भी तू सुस्त है अभागे!"

मनमोहन सुनता है, तो उसके कलेजेपर कोई अंगारेकी क़लमसे लिख देता है—"ऐसी प्रतिमा!"

✣

कभी-कभी वह आप ही आप सोचता है—सुराहीपर आटा साँटकर काम चला लिया था, तो क्या प्रतिमापर आटा नहीं सँट सकता?

फिर वह आप ही आप कराह उठता है—'सुराही सुराही है, प्रतिमा प्रतिमा है!'

वे तीनों

चम्पू, गोकुल और वंशी तीनों एक उत्सवमें गये।

वहाँ तबतक कोई न आया था। वे तीनों ही आगेकी कुर्सियोंपर बैठ गये। लोग आते गये, नम्बरवार बैठते गये, हाल भर गया।

उत्सव आरम्भ हुआ। संयोजकने सबका स्वागत किया।

तब आये एक महानुभाव अपनी मोटरमें।

उत्सवकी बहती धारा रुक-सी गई और सब उन्हें लेने-लेनेको झपटे।

वे हॉलमें यों आये कि कोई जलूस हो।

संयोजकने आगे झपटकर "उठो"के उद्घोषके साथ आँखोंकी वक्रताका झटका देकर उठा दिया चम्पू, गोकुल और वंशीको।

अब उन कुरसियोंपर बैठे—वे महानुभाव, उनकी पत्नी और पुत्र। चम्पू, गोकुल और वंशी एक ओर खड़े ताकते रहे।

तभी उन महानुभावने ११११ रुपयेका चैक संयोजकको दिया। माइकपर इसकी घोषणा हुई और हाल तालियोंसे गूँजा।

"ओह, यह बात है!" तीनोंने एक साथ कहा और उत्सवसे लौट आये।

चम्पूने सोचा—"ठीक है, मेरे भाग्यमें कुरसी होती, तो मैं उस महानुभावके घर न जन्मता!"

गोकुलने सोचा—"लाख धुर्पट रचने पड़े, मैं लाखपति बनूँगा।"

वंशीने सोचा—"चाँदीके गजसे आदमीको नापनेवाली इस समाज-व्यवस्थाके विरुद्ध मैं विद्रोह करूँगा।"

और चुपचाप तीनों अपने-अपने घर चले गये।

उनकी वाणी

दो मास बाद चन्दन घर लौटा, तो देखा कि कमरा भूतखाना बना हुआ है। छत और कोने जालोंसे भरे थे और ज़मीन धूलसे ढँकी थी। उसने झाड़ू उठाई और जाले साफ़ करने लगा। जाला टूटते ही मक्कड़ अपने लम्बे-लम्बे पैरोंसे दौड़ते और दूसरी जगह चिपक जाते। वह फिर उन्हें झाड़ूसे नीचे गिराता और वे फिर ऊपर दौड़ते।

थोड़ी ही देरमें चन्दन थक गया और झल्ला उठा। पाँच-सात झाड़ूके हाथ कसकर उसने मारे, तो मक्कड़ोंकी सारी शेखी धूलमें मिल गई। किसीका सिर फूटा, तो किसीका पैर टूटा। सबके सब ज़मीनपर ऐसे पड़े थे, जैसे आँधीके आम। आवेशमें उसके मुँहसे निकल गया—"बदमाशोंने मकानमें ऐसा अड्डा जमाया कि जैसे ये हज़रत ही उसका किराया भर रहे हों।"

झाड़ूसे एक गत्तेपर बुहार, वह उन्हें बाहर फेंकने चला। उसने सुना, वे आपसमें बातें कर रहे थे।

एकने कहा—"पता नहीं आज कौन दुष्ट हमारे घरमें घुस आया। कितने आनन्दसे रह रहे थे हम लोग!" यह किसी बच्चेकी आवाज़ थी।

अपने पुराने अनुभवोंको दुहराते-से एक बूढ़ेने कहा—"इंसान एक ऐसा राक्षस है कि वह किसीको शान्तिसे बैठे कभी देख ही नहीं सकता!"

चन्दनको बिजली-सी छू गई और गत्ता उसके हाथसे छूट गया। वह चुप्त लौट आया। पता नहीं, फिर वे क्या-क्या कहते रहे!

उदार

दीनाकी पुत्रीका विवाह उठा, तो वह दब-सा गया। कुछ न करो, तब भी १००-२०० चाहिएँ, पर पास तो भुनी भाँग नहीं।

दुखियाया-सा वह ब्रह्मचारी जगजीवनके पास गया। पहले भी उन्होंने उसके बिगड़े काम बनाये थे!

सोचकर उन्होंने अपने एक भक्त धनीके नाम सहायताका पर्चा लिख दिया। वे निकटके ही एक दूसरे नगरमें रहते थे।

दीनाने अपने घरकी झाड़-पोंछ की और ५रु० अण्टीमें लगा, वह घरसे निकला। भक्तजी अपनी बड़ी हवेलीके बाहर बैठे थे। परचा देखकर बोले—"हाँ, हाँ, बड़ी सुन्दर बात है। कन्यादानसे बड़ा कोई पुण्य नहीं। लड़कीके हाथ पीले हो जायेंगे और तुम गंगा नहा जाओगे। हम भी ज़रूर जो होगा करेंगे। कुँवर साहब मसूरी गये हैं। ४-५ दिनमें आयेंगे। तुम सोमवार-मंगलको आ जाना। इस यज्ञमें तो जितने चावल अपने पड़ जायँ, कल्याण ही है।"

दीना शामकी गाड़ीसे घर लौट आया। उसके पाँच रुपये खर्च हो गये थे और हाथ कुछ न आया था, फिर भी वह खुश था। उसकी उम्मीदोंके अश्व कनसरियाँ ले रहे थे।

× × ×

मंगलको दीना फिर चला, तो उसकी ज़ेबमें एक पड़ौसीसे उधार लिये पाँच रुपये थे। वह भक्तजीकी हवेलीपर पहुँचा, तो कुँवर साहब बाहर ही खड़े थे। दीनाके लिए यह मुँह माँगा वरदान था।

दीनाकी बात सुनकर बोले—"हाँ, हाँ, वे कह तो रहे थे, इस बारेमें कुछ मुझसे, पर मैंने ठीक ध्यान नहीं दिया। वे सोमवती अमावस्याका

स्नान करने हरद्वार गये हैं। ४-५ दिनमें लौटेंगे। तुम सोमवार-मंगल तक आ जाना। जब हमारे ब्रह्मचारीजीने लिख दिया है, तो कोई बात नहीं। काम हो जायगा तुम्हारा।"

दीना शामकी गाड़ीसे घर लौट आया। उसपर पाँच रुपये क़र्ज़ हो गया था और हाथ कुछ न आया था। फिर भी वह खुश था। उसकी उम्मीदोंके अश्व अब हिनहिना उठे थे।

× × ×

फिर मंगल आया और दीना चला, तो उसकी जेबमें एक सम्बन्धीसे उधार लिये पाँच रुपये थे। वह भक्तजीकी हवेलीपर पहुँचा, तो भक्त जी और कुँवर साहब बरामदेमें बैठे थे। दीनाके लिए यह भगवान्‌का दर्शन था।

उसे देखकर भक्तजी बोले—"अच्छा आ गये तुम। बड़ा अच्छा हुआ। आनन्दसे बेटीको उसके घर भेजो और सुखकी साँस लो। जिसकी धी सुखी, उसका जहान सुखी।"

कुँवर साहबके कानमें भक्तजीने कुछ कहा, तो उन्होंने एक पर्चेपर कुछ लिख, दीनाके हाथमें देते हुए कहा–"लो, मुनीमजीसे रुपये ले लो!"

दीनाके हाथमें पर्चा क्या आया, खज़ानेकी ताली आ गई। भाव-विह्वल हो, उसने कहा—"आपने मुझपर बड़ी कृपा की भक्तजी! मैं जन्मभर आपका एहसान न भूलूँगा।"

भक्तजी बोले—"इसमें एहसानकी क्या बात है भाई; यह तो हमारे ब्रह्मचारीजीका हुक्म है।"

वह पर्चा लिये चला, तो धरतीपर उसके पैर न पड़ रहे थे। सामने ही मुनीमजी गद्दीपर बैठे थे, फिर भी उसने कन-अँखियोंसे पर्चेकी तरफ़ देखा—उसपर १०१ रुपये लिखे थे। दीनाके अन्तरमें पुत्रीके शानदार विवाहका एक चित्र-सा घूम गया।

पर्चा लेकर मुनीमजीने चाँदीके ११ रुपये उसके सामने रख दिये।

भौंचक हो, उसने पूछा—कितने ?

"ग्यारह रुपये हैं भाई !" मुनीमजीने कहा, तो ग्यारह घण्टे-से दीनाके दिमाग़में टन्ना उठे।

"ग्यारह ?" दीनाने इस तरह पूछा कि जैसे सब दिशाएँ एक साथ बोल उठीं।

"हाँ, ग्यारह—दस और एक !"

परचा लेकर दीनाने पढ़ा। उसमें दानखाते ११ रु० देनेको ही लिखा था—अक्षर क़तई साफ़ थे !

दीना खड़ा था। ११ रुपये गद्दीपर पड़े थे। दीना उन्हें देखता, अपने १५ रु० को याद करता और सोचता कि अगले मंगलको बेटीका ब्याह है !

एक प्रश्न

मैं एक बहुत बड़ी मिलमें क्लर्क हूँ और आशा है कि कुछ ही वर्षोंमें हेडक्लर्क हो जाऊँगा। समयपर, अच्छा वेतन मिल जाता है और नौकरी छोड़ते समय अच्छा खासा प्रॉविडैण्ड फण्ड और पुरस्कार मिल जायेगा। घरमें मैं हूँ, पत्नी है, माँ है, दो बच्चे हैं। पड़ौसी भले हैं, मित्र समयपर काम आनेवाले। कहीं कोई अभाव नहीं है—मैं अपनेमें सन्तुष्ट हूँ; पर सुखी क्यों नहीं हूँ?

शामको दफ्तरसे निकलता हूँ, तो देखता हूँ कि अंगरेज़ लोग मस्तीसे उछलते, आपसमें निर्द्वन्द्व दंगा करते चले जा रहे हैं। उन्हें जैसे कोई चिन्ता नहीं—मस्ती ही मस्ती है। एक दिन ब्राऊनिंग कह रहा था—"ओह मि० शारदा, रोटियाँ हम कमा चुके; बस अब कल सुबह नौ बजेतक मौज है और हम हैं।"

मानता हूँ, ब्राऊनिंग ठीक कहता है। सबसे बड़ी चिन्ता रोटीकी है; वह पाँच बजेतक कमा चुके, अब मौज ही मौज होनी चाहिये, पर मौज कहाँ है? दफ्तरसे घर ऐसा जाता हूँ; जैसे अपनी माँके 'फूल' हरद्वार लिये जा रहा हूँ।

पत्नी इतनी सुशील है कि सारे पड़ौसमें उसका कोई जोड़ नहीं। सदैव मुझमें लीन, थोड़ेमें सन्तुष्ट, सुन्दर और सरल। मुन्ना जब सर्दियोंमें बीमार पड़ा तो पाँच सौ रुपये खर्च हुए। कुछ रुपये मित्रोंसे भी उधार लेने पड़े। जब वह अच्छा हो गया, तो बोली—"जबतक ये रुपये न उतर जायेंगे, मैं कोई कपड़ा न लूँगी और हाँ, तबतक या तो दालमें ही घी लेंगे, या रोटी ही चुपड़ेंगे।"

ऐसी पत्नीको पाकर कौन असन्तुष्ट होगा? कह तो रहा हूँ कि

असन्तोष कहीं है ही नहीं; पर सुख भी तो नहीं है! जीवन मशीनके पुर्ज़ेकी तरह घूम रहा है। कहीं कोई अभाव नहीं है, कुछ और चाह भी नहीं है। अपनी सीमाएँ जानता हूँ और सोचता हूँ, सभी कुछ तो है। फिर भी सुख क्यों नहीं है? सुख; जो जीवनको त्राऊनिंगकी तरह मस्तीसे भर दे।

और बस जीवनका यही एक प्रश्न!

मृत्युकी चिन्तामें

अंग्रेज़ी कब्रिस्तानमें एक बूढ़ी माँ हर शुक्रवारको आती है और अपने जवान बेटेकी कब्रपर फूलोंका एक सुन्दर गुलदस्ता चढ़ा जाती है।

उसका यह बेटा छह साल हुए अपनी भरी जवानीमें स्वर्ग सिधारा था। उसकी इच्छा है कि वह अपने पुत्रके पास ही दफ़नाई जाय। उसने अभीसे अपने पुत्रकी कब्रके बगलमें अपनी भावी कब्रके लिए स्थान सुरक्षित करा लिया है।

जब शुक्रवारको वह गुलदस्ता चढ़ाने आती है, तो हसरतभरी निगाहोंसे उस ज़मीनको देख जाती है। कभी-कभी उसके मुँहसे निकल जाता है—"ओह, मेरे ईश्वर! जाने मैं कब यहाँ सोऊँगी!"

बुढ़िया जीती है, पर मृत्युकी चिन्ता ही उसके जीवनका सुख है।

शास्त्रीजी

बड़े मज़ेदार आदमी हैं श्री मंसाराम शास्त्री।

वे कई भाषाओंके विद्वान् हैं और उनका जीवन एक इन्द्रधनुषी जीवन है, जिसमें अनेक रंग एक साथ समाये हुए हैं।

यों वे सदा अपनी पण्डिताऊ हिन्दीमें बोलते हैं, जिसमें फ़ारसी-अरबीका बहिष्कार और संस्कृतका शृंगार होता है! हाँ, बोलते-बोलते भारतीय संस्कृतिपर बात आ जाये, तो भक्तिकी धारामें बहने लगते हैं और उनकी हिन्दी शुद्ध संस्कृतमें इस तरह बदल जाती है, जैसे लहरमें लहर!

उनका जीवन एक इन्द्रधनुषी जीवन है, जिसमें अनेक रंग एक साथ समाये हुए हैं। भारतीय संस्कृतिकी शान्तधारामें तैरते-तैरते वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिके प्रचण्ड प्रवाहमें कब आ जायँ, इसे कोई नहीं जानता। हाँ, यह अक्सर देखा है कि वे शान्तिसे उत्साहमें आ जायँ, तो उनकी शुद्ध संस्कृत अंग्रेज़ीमें इस तरह बदल जाती है, जैसे काँटेपर रेल!

उनकी बातें आगे बढ़ती रहती हैं और जाने कब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिसे घरेलू जीवन पर आ जाती हैं। कमाल यह है कि हम उनकी बातें न समझ रहे हों, तब भी यह समझ सकते हैं, क्योंकि अब वे साधारण हिन्दीमें बोल रहे होते हैं।

बड़े मज़ेदार आदमी हैं श्री मंसाराम शास्त्री।

डाकू और फौजी

[१]

"बाबूजी, भगवान् आपका भला करे !"

उसने करुण कण्ठसे पुकारा और वह देहका पूरा ज़ोर लगाकर थोड़ा-सा मेरी ओर घिसट आया।

देह उसकी दुर्गन्धभरी, कपड़े लगभग चीथड़े और बाल धूलभरे—उसके घुटनोंसे नीचेके पैर उठते न थे, बेकार हो गये थे।

मैंने एक इकन्नी उसके तामलोटमें डाल दी और साथ चल रहे अपने मेज़बानसे कहा—'ओह, कितना दयनीय है बेचारा !'

वे उपेक्षासे हँसे ! बोले—"यह ज़ालिमसिंह डाकू है। जाने इस हरामज़ादेने कितने घर उजाड़े भाई साहब ! सात वर्ष तक इसने ज़िले भरको नहीं सोने दिया। जो पुलिसवाला इसके पीछे पड़ा, उसे ही इसने काना और नकटा करके छोड़ा।

एक दिन अचानक यह दो फ़ौजियोंके हत्थे चढ़ गया, तो उन्होंने बन्दूकके कुन्दोंसे इसके घुटने तोड़ दिये। अब बाजारमें घिसट-घिसटकर अपने कर्मोंके फल भोग रहा है।

मेरे भीतर भर गये ज़ालिमसिंह डाकू और बाज़ारमें घिसटता यह भिखारी और तब यह वाक्य—'हिंसाने हिंसासे हिंसाको लुंज कर दिया कि हिंसा न कर सके और तब समाजमें एक दयनीय भिखारीकी सृष्टि हुई !'

[२]

घर लौटकर भी मैंने उस भिखारीकी चर्चा की, तो मेरे मेज़बान बोले—"ऐसे दुष्टोंका यही एकमात्र इलाज है भाई साहब !"

बात अपने घरकी हुई, पर मेरे भीतर यह एकमात्र शब्द उमड़-घुमड़ होता रहा और तब मुझे याद आया वाल्मीकि !

वह भी डाकू था। उसे एक दिन मिले कोई ऋषि। डाकूको ऋषि क्या, राव क्या ? उसने उनपर भी शक्तिका प्रयोग किया। ऋषि डरे नहीं। उन्होंने उसे ढंगसे उसका स्वरूप दिखा दिया और तब वह डाकू ही हो गया स्वयं ऋषि !

यह क्या हुआ ? यह अहिंसाकी हिंसापर विजय हुई। तो हिंसा नष्ट कर सकती है, बेकार कर सकती है, अहिंसा बदल सकती है !

मन ही मन मैंने कहा—भाई ज़ालिम, तू यदि अपने पुराने कर्मोंपर सन्तोष नहीं कर सकता, तो वे फ़ौजी भी गौरवके पात्र नहीं, क्योंकि तू भी समाजमें दयनीयोंकी सृष्टि करता था और वे भी अपनी शक्तिसे समाजमें एक दयनीय ही बना पाये !

श्रृङ्गार

दिनांक—दिवालीसे दो दिन बाद,

स्थान-इन्दौरका बाज़ार !

एक बैलगाड़ी जा रही थी, जिसका एक बैल गहरा लाल और दूसरा चिट्टा सफ़ेद।

सफ़ेद बैल गेरूके छापोंसे चित्रित: कहीं पंजा, तो कहीं चुगड़ेका गोला और कहीं चिन्दनें।

रामनारायण एक भावुक, जो सौन्दर्यका कण भी कहीं पाएँ, तो डूब उतरा चलें।

देखकर खिले-खिलेसे बोले—"वाह, क्या रूप आया है इस बैल-बेटे पर !"

सुधाकर धरतीका आदमी। उसने ध्यानसे देखा, तो उसके मुँहसे निकल पड़ा—"जिसमें अपना कोई रंग नहीं होता, उसे जो चाहता है इसी तरह अपने रंगमें रंग लेता है।"

ज़रा रुककर उसने कहा—"इस नाटककी दुखान्तता यह है कि दुनिया इस थोपे हुए रंगको श्रृंगार कहती है और स्वयं रंग जानेवाला भी उसपर आँसू या हुंकार नहीं, मुसकान ही बखेरता है।"

रामनारायण सुधाकरकी ओर देख रहे थे। सुधाकरने देखा, उनकी आँखोंमें उल्लासका नशा एक बार घिरकर बिखर गया है।

चूहड़

उसका नाम चूहड़ था।

एक फूटा हुआ लोहेका थाल, पीतलकी एक पतीली, एक कड़छी, एक थाली और एक अँगीठी; बस यही उसकी सम्पत्ति थी। वह कभी उबले हुए चने और कभी सिंघाड़े बेचा करता था। उसने अपने जीवनमें कभी कोई कपड़ा खरीदा या नहीं; यह सन्दिग्ध है, उसकी धोती और बण्डीने धोबीका घाट कभी नहीं देखा, इसके लिए कई प्रामाणिक साक्षी मिलते हैं।

दूकानका किराया देना उसके बसकी बात न थी। वह मण्डीके बाहर एक थड़ेपर बैठता था। धूप तो शायद उसे लगती ही न थी। बरसातमें पानी पड़नेपर वह इधर-उधर बच जाता था।

सप्ताहमें दो बार वह अपने लिए दस-बारह रोटी बनाता। उसकी रोटियाँ नमकीन होतीं। भोजनमें दाल-शाककी आवश्यकता है, इस सिद्धान्तके वह विरुद्ध था। प्रतिदिन प्रातःकाल दो रोटियाँ खाकर वह घरसे बाहर निकलता और दिन छिपनेके बाद तक पूरा प्रयत्न करनेपर भी जो छटाँक-आधापाव चने बिकनेसे बच रहते, रातमें उन्हें ही खाकर वह ठण्डा पानी पी लेता।

उसका रंग घोर काला था और देह मझला। उसके शारीरिक सौन्दर्यकी उपमा इंजनके बुझे हुए कोयलेसे दी जा सकती है।

इस साल सर्दी बहुत पड़ रही थी। चूहड़ नमूनियेंकी झपेटमें आ गया। डाक्टर, वैद्य, हकीमकी उपयोगिता वह मानता न था और साथी उसके थे केवल आकाशके तारे।

तीन-चार दिन बाद तेज़ दुर्गन्धने मुहल्लेवालोंको उसके मर जानेकी

सूचना दी, पर उसका अन्त्येष्टि-संस्कार करनेकी उत्कण्ठा किसीके भीतर न जागी।

पाँचवें दिन चार कहारोंके साथ पुलिसने चूहड़की कोठरीका दरवाज़ा खोला। मिट्टीकी एक हँडिया दोनों हाथोंसे छातीपर चिपटाये चूहड़का शव पड़ा था और उसकी खुली आँखें अब भी उस हँडियापर लगी हुई थीं।

हँडियामें रुपये थे, असलमें वह चूहड़के सारे जीवनका संकलित ओज था। किरायेपर आये, चार कहारोंके कन्धे चढ़ा चूहड़ चला गया। पिछले बीसों बरसोंमें चूहड़के बारेमें कभी किसीने एक बार भी न सोचा था, पर आज वह सभीके भीतरकी हलचलोंका केन्द्र था।

पुलिस आज ख़ुश थी और पड़ौसी खिन्न।

उस हँडियामें कितने रुपये थे? चूहड़की कोठरीमें ही जब दीवानजीने वे सावधानीसे गिने तो सत्रह सौ तैंतीस थे। "ज्योंके त्यों, बिना गिने" वे कोतवाली पहुँचे और कोतवाल साहबने उन्हें अपने एकान्त कमरेमें गिना—वे पन्द्रह सौ चौंतीस थे। "खुदा गवाह है" कोतवालने उन्हें "बिना छुए" बड़े दीवानजीको दे दिया कि हिस्सारसदी सबमें बाँट दें। बड़े दीवानजीने सबके सामने उन्हें गिना। वे दस सौ चार थे!

चूहड़की चालीस वर्षोंकी कमाई, इस तरह चार घंटोंमें ठिकाने लग गई। जाने आकाशमें बैठा चूहड़ यह सब देख पाया कि नहीं?

नन्दा

नन्दा कई दिनसे भूखा था—पेटकी ज्वालासे पीड़ित और रोगसे आक्रान्त। उसने देखा—सेठ रामगोपाल मीठे पूड़ोंका थाल भरे, देवी-कुण्डपर बन्दर जिमाने जा रहे हैं। गिड़गिड़ाकर नन्दाने कहा—"सेठजी! मैं कई दिनसे भूखा हूँ, जान निकली जा रही है। कुछ पूड़े मुझे भी दीजिये।"

"अबे भूखा है, तो शहरमें जाकर माँग। ये हनुमानजीके पूड़े तुझे कैसे दे दूँ?"

"शहर जानेकी हिम्मत नहीं है सेठजी! बीमारीने मुझे घर लिया है। भूखेकी जान बचानेसे तो हनुमानजी आपपर प्रसन्न ही होंगे!"

"अच्छा रहने दे, मुझे तेरे उपदेशकी ज़रूरत नहीं है।"

बड़े प्रेमसे बन्दर जिमाकर सेठजी लौटे, तो देखा—नन्दा रास्तेपर पड़ा है। घृणाके स्वरमें आप ही आप बोले—"अभी तो बदमाश भूखों मर रहा था, इतनेमें सो भी गया!"

यह सुनकर भी नन्दा नहीं जागा। जागनेको वह सोया ही न था!

दो घोड़े

स्टेशनपर पंजाब-मेलकी प्रतीक्षामें एक बहुत क़ीमती गाड़ी खड़ी थी और उसके पास ही एक साधारण ताँगा। ताँगेवाला घासकी लच्छियाँ छाँट-छाँटकर घोड़ेको खिला रहा था और गाड़ीवान एक शानदार वर्दी पहने, अपनी जगहपर बैठा था।

अभिमानसे हिनहिनाकर गाड़ीके घोड़ेने ताँगेके घोड़ेसे कहा—"अरे, तेरी हालत तो बहुत खराब है। तू रात-दिन जुता रहता है, पीठपर हण्टर बरसते हैं, फिर भी तुझे अच्छा खाना नहीं मिलता।"

"हाँ भाई, मैं दिनरात काममें लगा रहता हूँ और जो भाग्यमें है, खाना भी मिल ही जाता है!"

"क्या खाक खाना मिल जाता है, यह सूखा दूबड़ा या चरीके फट्टे! मुझे देख, मेरे मालिकने मेरी सेवाके लिए दो सेवक छोड़ रक्खे हैं। एक मेरे लिए घास लाता है और दूसरा मुझे मलता है। मैं कितना सुखी हूँ!"

मनमें उठी तीक्ष्णताको भीतर ही भीतर हल्का करते हुए ताँगेके घोड़ेने कहा—"हाँ भाई, तुम बहुत शानदार हो, पर सुखकी बातें न बघारो, मैं तुमसे ज्यादा सुखी हूँ।"

आश्चर्यसे गाड़ीके घोड़ेने पूछा—"तू मुझसे ज्यादा सुखी है?" और घृणासे दोहराया—"क्या है रे तेरा सुख?"

"मेरा सुख है मेरा साथी—ताँगेवाला। तुम्हें कुछ भी क्यों न मिले, अपने मालिकके फिर भी तुम गुलाम हो। मुझे यह सुख तो है कि जैसा मैं हूँ, वैसा ही ग़रीब है मेरा ताँगेवाला और हम दोनों एक दूसरेके सुख-दुःखके साथी हैं!"

"फिर भी मेरी कितनी शान है ?"

"हाँ भाई, जानता हूँ कि तुम बीमार पड़ जाओ, तो डाक्टरोंकी भीड़ जुड़ जाये, पर जानते हो कि मैं बीमार पड़ जाऊँ, तो मेरा साथी खुद बेचैन दवा कूटता फिरे ? इस प्यारके मुक़ाबलेमें तुम्हारी शानका क्या मूल्य है आखिर !"

गाड़ीका घोड़ा हिनहिनाकर चुप हो गया; जैसे अपने अभिमानके लिए अपने ही भीतर कहीं स्थान खोज रहा हो।

रसोइयाजी

[१]

श्री अग्रवाल एक रेलवेके मैनेजर थे। शान-शौकतसे रहते और सैलूनमें चला करते। खाने-पीनेके शौकीन थे—अपने बूढ़े रसोइयेको रिश्तेदारकी तरह रखते। कोई उसकी कभी शिकायत भी करता, तो कहते—"अरे भाई, वह कलाकार है। देखते नहीं, रोज़ आगमें बाग़ लगाता है।"

उनका वह रसोइया उनके ही सैलूनसे कटकर मर गया, तो नये रसोइयेकी दौड़धूप शुरू हुई। बहुतसे रसोइये आये और अग्रवालकी कसौटी पर खोटे हो, चले गये। उनका सारा दफ्तर रसोइयेकी खोजमें लगा हुआ था।

एक दिन उनके बड़े बाबू एक प्रौढ़ सज्जनको ले आये। बड़ी-बड़ी दाढ़ी-मूछें, माथेपर सिन्दूरका तिलक, कलाईमें डोरीका लच्छा और गलेमें चाँदीमढ़ा रुद्राक्षका बड़ा दाना; ये भी एक रसोइया थे।

इनका रूप देखकर तो अग्रवाल बहुत बिदके, पर खाना खाया, तो परच गये। रसोइयाजी रख लिये गये और रख क्या लिये गये, वे अपने छौंकके कारण, अग्रवालके मनपर छा गये। वे दाल-सब्जीका ही छौंक न जानते थे, बातोंके छौंकमें भी मास्टर थे।

[२]

"रसोइयाजी, खाना आज जल्दी बना लीजिएगा, मैं रातमें आठ बजेकी गाड़ीसे बाहर जा रहा हूँ!" अग्रवालने रसोइयाजीसे कहा, तब वे जल्दी-जल्दी हाथ-पैर धो रसोईमें चले गये, पर थोड़ी ही देर बाद वे आकर फिर उनके सामने खड़े हो गये।

"क्या है रसोइया जी ?" अग्रवालने पूछा, तो बोले—"आप इस गाड़ीसे बाहर न जाइये !"

"क्यों, क्या बात है ?"

"बस यही बात है सरकार, कि मैं इस गाड़ीसे आपको बाहर न जाने दूँगा; चाहे आप मुझे मार ही डालें !"

कुछ ऐसी बात हुई कि अग्रवाल उस गाड़ीसे बाहर न जा सके और दूसरे दिन प्रातः समाचार मिला कि आठ बजेवाली गाड़ी फ्रंटियरसे टकरा गई। दुर्घटना बहुत भयंकर हुई, जिससे सैकड़ों आदमी हताहत हो गये !

अग्रवाल दिनभर अपने कमरेमें पड़े कुछ सोचते रहे। शामको उन्होंने रसोइयाजीको बुलाकर पाँच सौ रुपये भेंट किये और तुरन्त उन्हें नौकरीसे अलग कर दिया।

कमला

रमेश है विश्वविद्यालयका प्रोफ़ेसर और कमला उसकी पत्नी। दोनोंका विवाह हुए सात वर्ष बीत गये।

दोनों एक-दूसरेसे कहाँतक सन्तुष्ट हैं पता नहीं, पर दोनों बराबर साथ ही रह रहे हैं। साथ ही खाना खाते हैं और कभी-कभी साथ ही घूमने जाते हैं, पर रास्तेमें प्रायः चुप रहते हैं।

रमेश जब विश्वविद्यालय जानेके लिए घरसे निकलता है, तो उसका चेहरा कभी खिला नहीं होता!

उस दिन जब रमेश कोल्हापुरकी समाज-सुधार-परिषद्में तड़ाकेदार अपना बहुविज्ञापित भाषण दे, घर लौटा, तो पड़ोसियोंने करुणा भरे स्वरोंमें उसे बताया—"भाई, तुम्हारे पीछे तुम्हारा घर जल गया। पता नहीं, आधीरात कैसे आग लगी।"

"ऐं!" रमेश जैसे आकाशसे गिर पड़ा।

"और हाय, कमला भी न बच सकी भैया, हम लोग आग लगते ही दौड़े, पर अफ़सोस भीतरसे साँकल चढ़ी थी।"

"अच्छा" डूबतेसे स्वरमें रमेशने कहा।

पड़ौसकी बुढ़िया रामा दादी कह रही थी—"उसके तो रोने-चिल्लाने-की आवाज़ भी हमने नहीं सुनी बेटा!"

"हूँ"—रमेश जैसे भावीके किसी स्वप्नमें उलझ गया था!

जीवनका ज्ञान

बूढ़ेने युवकसे कहा—"तुम अभी बच्चे हो। तुम्हें क्या पता, काम कैसे होता है ? मैं दस सालसे सभाका प्रधान हूँ। ओह, इतना विशाल अनुभव ! तुम्हारे हाथोंमें मैं सभाको छोड़ दूँ, तो तीन दिनमें तुम इसे चौपट कर दो। यह मेरे जीवनमें नहीं हो सकता।"

पके पीले पत्तेने उगती कोंपलसे कहा—"मैं दुनियाका रासरंग बहुत देख चुका। अब तुम यहाँ आरामसे रहो, खिलो और खेलो। मैं अब नीचेकी हरी घासपर विश्राम करूँगा।"

युवक आस्तीन चढ़ाये कड़ुवी आँखोंसे बूढ़ेको देख रहा था।

कोंपल आँखके प्यालेमें प्यारका रस भरे नीचेकी ओर उड़ते पर्णको देख रही थी।

बूढ़ेके रजत-केशोंमें उसके श्वासोंकी संख्या लिखी है।

पर्णकी पीतिमामें जीवनकी बीती सन्ध्याओंका इतिहास लिखा है। जीवनको किसने ठीक समझा ?

सुखनन्दन माली

धरतीपर चर्चा थी कि पारिजातका फूल केवल स्वर्गमें ही खिलता है, पर सुखनन्दन मालीको धुन थी कि वह धरतीपर भी खिले।

अपनी बुद्धिपर भरोसा किये वह बरसों प्रयोग करता रहा। उसके प्रयोगोंसे वृक्ष-शास्त्रमें उन्नति हुई, उसे यश मिला, पर उसकी प्यास तो और भी भड़क उठी—धरती पर पारिजात कैसे खिले ?

किसीने कहा—कैलाशके योगियोंकी कृपासे यह सम्भव है।

सुखनन्दन कैलाश पहुँच गया और बरसों वह योगियोंकी सेवामें लगा रहा। सेवासे प्रसन्न हो, एक दिन किसी योगीने उसे पारिजातका एक बीज उपहारमें दिया और उसकी विधि भी बताई।

सुखनन्दनकी तपस्याका यह बीज ही वरदान था। वह उसे सम्भाले अपने घर लौट आया और धरती कमाने लगा। बुढ़ापेमें जन्मे पुत्रके संस्कारकी तरह, उमंगोंसे भर, उसने वह बीज धरतीकी गोदमें एक दिन रख दिया और जिस दिन उसका पहला अंकुर फूटा, वह हर्षसे झूम-झूम गया।

रात-दिन अब सुखनन्दन उस वृक्षमें डूबा रहता। सचाई यह कि वृक्ष ही उसका संसार था।

यों दस वर्ष बीत गये। दस वर्ष पहले सुखनन्दनकी कुटियाके सामने उगा वह अंकुर अब एक भरा-पूरा वृक्ष था। ऋतुएँ आतीं और चली जातीं, पर उस वृक्ष पर फूल लगनेका कोई आसार दिखाई न देता।

सुखनन्दन नये-नये खाद देता, नये-नये ढंगोंसे उसे जल पहुँचाता, नौलाता-सींचता और देवी-देवताओंकी नई-नई मनौतियाँ मनाता रहा, पर उसपर कभी फूलकी एक फुनगी भी न फूटी।

यों ही कई वर्ष बीत गये। एक दिन घूमते हुए एक तपस्वी उधर आ निकले। सुखनन्दनने अपनी पीड़ा उनसे कही। वृक्षको योगदृष्टिसे देखकर तपस्वी बोले—"सुखनन्दन, यह वृक्ष तो बाँझ है। तुम्हारी साधनासे यह लहलहा सकता है, फूल नहीं सकता!"

तपस्वी चले गये, सुखनन्दन कुटियाके सामने बैठा रह गया। उसके रोम-रोममें एक कराह थी—हाय, मैंने अपना सारा जीवन एक बाँझ पेड़की सेवामें ही बिता दिया!

मैं जान गया !

मैं उस दिन अपने एक मित्रके घर गया, तो देखा वे और उनकी पत्नी आपसमें लड़ रहे थे। मैं अपने मित्रको एक मिठाई मानता था, कोई दस वर्षोंसे हमारा परस्पर सम्बन्ध था, पर आज तो वे कड़ुवे ज़हर हो रहे थे।

मैं दोनोंको शान्तकर, मन बदलनेके लिए अपने साथ घूमने ले चला। मैं उन दोनोंसे इधर-उधरकी बातें करता, उन्हें हँसाता-बहलाता जा रहा था, पर मेरे भीतर जिज्ञासा मचल रही थी—मेरे मित्रके स्वभावकी मिठासमें, यह नीम कहाँसे आ गया ?

तभी रास्तेमें आ गई एक घड़ीकी दूकान। हम तीनों उसमें चले गये—मुझे अपनी घड़ीके बारेमें कुछ पूछना था।

मित्रकी पत्नीके हाथमें सोनेकी घड़ी थी और उसमें एक सुकुमार फीता, पर उन्होंने दूकानदारसे एक नया फीता खरीदकर अपनी घड़ीमें फिट कर लिया। यह नया फीता बहुत बढ़िया, मर्दाना और उस घड़ीके सौन्दर्यको दबा देनेवाला था।

हम तीनों फिर चल पड़े, पर मैं अब यह जान चुका था कि मेरे मित्रके स्वभावकी मिठासमें यह नीम कहाँसे आ गया !

भिखारी

[१]

उसका नाम था नानक और काम था भीख माँगना । बम्बईकी एक प्रसिद्ध सड़कके मोड़पर बैठा, वह सुबहसे शाम तक भीख माँगा करता था । उसकी सूरतमें सौन्दर्य न था, पर गलेमें एक लोच थी—हृदयको हिला देनेवाला एक दर्द था । वह बड़ा मनुष्य-पारखी था । सूरत देखकर मनुष्यके हृदयको पहचान लेता था ।

मोटरवालोंसे उसे चिढ़ थी । उन्हें वह पशु कहा करता था । गाड़ीवालोंसे उसे आशा न थी; वह उनकी ओर देखता भी न था । पैदल चलनेवाले सीधे-सादे आदमियों तक ही उसकी दुनियाका दायरा सीमित था ।

मोड़पर आते ही वह आदमीकी ओर घूरकर देखता और देखकर चुप रह जाता, पर उसका हृदय यदि गवाही दे देता, तो उसे देखते ही वह एक आवाज़ लगाता—"भूखेको कुछ दोगे बाबा !" और उठकर उसके पीछे हो लेता । उसके माँगनेका ढंग इतना करुण एवं प्रभाव-पूर्ण था कि वह अपने स्थानसे उठकर फिर पैसा लेकर ही लौटता । पचपन वर्षके भिखारी-जीवनमें उसे एकबार भी निराशाका सामना न हुआ था । सचमुच उसका आकृति-ज्ञान कमालका था ।

प्रातःकाल छै बजे आकर वह अपनी जगह बैठता, शामको छै बजे वहाँसे उठता और अपनी गुदड़ीकी ज़ेबमें हाथ डालकर, भीतर ही भीतर दिनभरकी कमाईका जोड़ लगाता हुआ किसी ओरको चला जाता ।

उसकी यही दैनिक दिनचर्या थी !

[२]

उस दिन बिहारके भूकम्पका भयंकर समाचार था, सारा देश सिहर उठा था। जगह-जगह सहायता-समितियोंका निर्माण हुआ था। बम्बई ही क्यों पीछे रहता भला।

स्वयंसेवकों और कार्यकर्ताओंकी टोलियाँ धन एकत्र करने निकल पड़ी थीं। दानियोंने उदारता-पूर्वक अपनी थैलियोंके मुँह खोल दिये थे और धनकी वर्षा-सी होने लगी थी।

ऐसी ही एक टोली उस मोड़की ओर भी आ निकली। भिखारी उसे देखकर खड़ा हो गया। मन ही मन उसने कहा—"क्या कांग्रेसका वह झगड़ा फिर खड़ा हो गया है ?"

उसे कांग्रेसवालोंसे प्रेम न था। चिढ़ भी नहीं। वह उनसे उदासीन था। उसका खयाल था कि ये भिखारीको पैसा न देकर उपेक्षा-पूर्ण उपदेश दिया करते हैं। फिर भी वह कौतूहल-वश कुछ आगे बढ़ गया।

"यह क्या हो रहा है भाई ?"

"चन्दा !"

"कांग्रेसके लिए ?"

"नहीं !"

"फिर ?"

"बिहारमें भूचालसे हज़ारों आदमी मर गये और सैकड़ों गाँव उजड़ गये हैं।"

"अच्छा !"

कुछ सोचकर उसने कहा—"फिर तुम मुझसे क्यों नहीं माँगते कुछ चन्दा ?"

युवकोंके अट्टहाससे वातावरण गूँज उठा।

भिखारी झेंप-सा गया। उसका आत्माभिमान तड़प उठा। उसने

अपना हाथ जेबमें डाला, पूरे दिनकी कमाई मुट्ठीमें ली और उसे सड़कपर एक झटकेके साथ बखेरकर, वह एक ओरको दौड़ गया।

स्वयंसेवकोंने गिने सवा आठ आने थे!

चौरस्तेपर बिखरी हुई भिखारीकी यह निधि देखकर बम्बईकी ऊँची अट्टालिकाएँ शर्मसे नीचे देखने लगीं। कुबेर अप्रतिभ हो गया।

भिखारीने अपने पास एक पैसा भी न रक्खा था। उसे दूसरे दिन तक भूखे रहना पड़ा, पर वह प्रसन्न था।

क, कि, की

क, कि, की: तीनों कहाँ जन्मे, कहाँ पले, पर घटनाओंके मायाचक्रपर कुछ ऐसे चढ़े कि जीवनके मध्याह्नमें एक स्थानपर आ मिले।

तीनों एक ही जीवनके अंग। सुखमें एक, दुखमें एक, पर तीनों एक-रस नहीं, क्योंकि तीनमें दोका दृष्टिकोण यह कि ताँक नहीं, जुफ्त और तीनमें दो जुफ्त असम्भव!

तीनों एक ही जीवनके अंग; सुखमें एक; दुखमें एक; तीनों दुखी। सुख है सन्तुलन; यहाँ घोर खींचातानी! फिर सुख कहाँ? शान्ति कहाँ?

क कहता है—तुम दोनों ठीक रहे, मैं मिट गया।

कि की सम्मति है—तुम दोनोंका क्या बिगड़ा, मेरा तो सर्वनाश हो गया! की की घोषणा है—तुम तो फिर भी अपने ठिकाने हो, मैं तो इधर, न उधर!

तीनों अपनी तरफ़ देखते हैं, अपनी हानिका लेखा जोड़ते हैं, कोई दूसरेकी नहीं सोचता।

लौटनेके मार्ग तीनोंके खुले हैं, तीनों स्वतन्त्र भी हैं, पर लौट नहीं पाते। क्या बहुत आगे बढ़ आये हैं, इसलिए?

या लौटनेका मन ही किसीका नहीं होता?

क शायद ममताके कारण और कि, की अपनी प्रतिस्पर्धाके कारण!

तीनों सोच रहे हैं, समझ रहे हैं, मन-मस्तिष्क तीनोंके जाग्रत हैं, पर तीनों ही अपनेको बदल नहीं पाते!

तीनों जीवनकी विडम्बना सह रहे हैं, नष्ट हो रहे हैं, घुल रहे हैं, पर घुलमिल नहीं पाते। तीनों एक ही जीवनके अंग, सुखमें एक, दुखमें एक, पर तीनों एकरस नहीं, क्योंकि तीनमें दोका दृष्टिकोण यह कि ताँक नहीं जुफ्त और तीनमें दो जुफ्त असम्भव!

दो साधक

राजीव और सुलोचन दोनों युवक साथी मनुष्यताके उपासक हैं और यथासम्भव अपना समय मनुष्यताकी सेवामें लगाते रहते हैं।

उस दिन दोनों किसी दूर देहातसे सेवाकार्य करके लौट रहे थे कि सहसा राजीवने पूछा—"सुलोचन भाई, तुम्हें सेवा-साधनाका कौन-सा स्वरूप प्रिय है?"

उत्तर मिला—"मैं चाहता हूँ कि दूसरोंके आँसू पोंछ सकूँ।"

"और तुम्हें?" सुलोचनने भी पूछा।

उत्तर मिला—"मैं चाहता हूँ कि दूसरोंके आँसुओंमें अपने आँसू मिला सकूँ।"

सुलोचनका मन न भरा। पूछा उसने—"दुखियोंका दुःख-निवारण ही तो हमारी सेवा-साधना है राजीव?"

"हाँ, ठीक है सुलोचन" राजीवने कहा—"किन्तु दुखियाको अपनेसे दूर मानकर उसके दुखका निवारण तो अहंकार है; जैसे कोई धनी भूखेको टुकड़ा फेंक दे!"

"तो फिर सेवा-साधनाकी आत्मा कष्टमोचन नहीं है?" एक नया प्रश्न उभरा।

उत्तर मिला—"ना, किसीका कष्टमोचन न साधकका काम है और न यह उसके वशमें ही है। साधककी सीमा तो यही है कि वह दूसरेमें भी अपनेको पाये।"

"तब?"

"तब यही कि साधककी सीमा है समवेदना और यही हमारी सेवा-

साधनाकी आत्मा है। दूसरे शब्दोंमें हम दूसरेका दुख कितनी गहराईसे अपनेमें अनुभव करते हैं, यही हमारी कसौटी है।"

"पर बिना साधन और व्यवहारके कोरी समवेदनाका क्या उपयोग है?"

"समवेदना कभी कोरी नहीं होती राजीव, समवेदनासे विकल होकर कुष्टरोगीके घावोंपर एक फूँक मारनेका, उस अस्पतालके निर्माणसे अधिक महत्त्व है, जो अपने नामपर बनाया गया हो!"

राजीव अब पूरी तरह शान्त था। उसने कहा—"ठीक है तुम्हारी बात; आँसू ही मनुष्यताकी चरम परिभाषा है।"

वे दोनों

भयानक जंगलमें वे दोनों मिले—अचानक और खोये-से।

पुरुषने कहा—"आओ, अब हम साथ रहें।"

नारीने सिर झुका लिया। पुरुषने उसका कोमल हाथ, अपने बलिष्ठ बाहुमें थाम लिया।

पुरुषने कहा—"मैं कठोर हूँ। आदेश मेरा स्वभाव है और उसके विरुद्ध कुछ सुननेकी मुझे आदत नहीं। क्या तुम मेरे साथ रह सकोगी?"

नारीने कहा—"मैं कोमल हूँ। जीवनमें उफान लाती भी हूँ और उसे अपनेमें समाती भी हूँ। मैं सदा एक ही मुद्रामें स्थिर रहनेवाला पर्वत-का शिखर नहीं। लहरोंमें इठलानेवाली सरिता हूँ।"

पुरुषने कहा—"तब तुममें मुझे अपना सेवक बनाकर रखनेकी क्षमता है।"

नारी मुसकराई, पुरुषने उसे भुजपाशमें बाँध लिया।

दो मेमने !

देवदूत उस दिन दुनियाके बीचसे गुज़र रहा था ।

मार्गमें उसे दो मेमने मिले । एक स्वस्थ, एक सुन्दर । ममताके सरल उच्छ्वासमें दोनोंको देवदूतने अपनी गोदमें उठा लिया और लाड़से चुमकारा ।

"कितने अच्छे हैं ये !" अपनी सरलतामें उसने सोचा—

"क्यों ये धरतीकी धूलमें लोटते रहें—मैं इन्हें अपनी दिव्यसाधनासे स्वर्गकी शक्ति बनाऊँगा ।" उसके भीतर निर्माणकी भावना जाग उठी ।

मेमनोंको भी देवदूत बहुत अच्छा लगा । उन्हें ऐसी ममता शायद कभी किसीसे न मिली थी । उन्होंने उसे खूब सूँघा, चाटा और दुलराया । उन्होंने सोचा—"हम अब इसके ही साथ खेला करेंगे ।"

वह देवदूत था !

वे मेमने थे !

× × ×

देवदूत मेमनोंको स्वर्गकी शक्ति बनानेमें लग गया । मेमने देवदूतको खिलौना मान, जीवनमें खेल चले ।

बरसों बाद, एक दिन दोनोंने अपने-अपने कामका हिसाब जाँचा ।

देवदूत दुखी हुआ कि वे मेमने आज भी मेमने ही हैं । उसकी साधना उन्हें स्वर्गकी शक्ति नहीं बना पाई ।

मेमने झल्लाये कि यह खिलौना नहीं है, कुछ और है ।

देवदूत उठा और स्वर्गकी ओर बढ़ चला ।

मेमने फिर धरतीकी धूलमें लोटकर मिमियाने लगे ।

आरम्भ

सृष्टिके आरम्भकी बात है।

उस दिन पुरुषका मन कुछ खिन्न था। हरेभरे पहाड़ों, सरिताकी लहरों, पक्षियोंके कलरवों एवं वनके वैभवोंमें वह उलझ न रहा था। आज वह अपनी ही दृष्टिमें अपूर्ण था। उसका हृदय कुछ माँग रहा था, जिसे वह स्वयं भी न जानता था। वह अपने स्थानसे उठ चला।

उसने देखा, सरिताके तटपर एक नारी बैठी है। रूपकी सजीव प्रतिमा, पर चिन्तामें डूबी। अनमने भावसे पुरुषने कहा—"क्या सोच रही हो?"

"यह सरिता इतनी आकुलतासे दौड़ी कहाँ जा रही है? क्या वहाँ इसकी कोई प्रतीक्षा कर रहा है?"

इस प्रश्नमें नारीके हृदयकी माँग थी। दोनोंने एक दूसरेको देखा और दोनों साथ-साथ एक वृक्षके नीचे जा बैठे।

वृक्षने पुष्पवर्षा की। पक्षियोंने मंगलगान गाया।

भोजन या शत्रु

पार्कमें सड़कोंके किनारे, दोनों ओर विभिन्न वृक्षोंकी पंक्तियाँ हैं और उनके पास-पास फूलोंकी क्यारियाँ। इन्हें सींचनेके लिए उभरी हुई नालियाँ हैं जिनमें ट्यूबवैलसे पानी आता है।

रात हो गई है, पर बिजलीकी मामूली रोशनी पार्कमें है। एक सफ़ेद, बहुत सुन्दर बिल्ली नालीमें चली आ रही है। पैरोंमें सावधानी, कानोंमें सतर्कता—कभी-कभी इसी नालीमें उसे रसगुल्ला-सा मीठा कोई चूहा मिल जाता है।

एकदम वह रुकी—उससे लगभग दो फ़ुट, नालीकी बाईं पटरीपर यह काला-काला क्या है, कोई दो अढ़ाई इंच उभरा हुआ? रोम-रोमकी शक्ति आँखोंमें समेटे उसने देखा।

चूहा! उसका रोम-रोम पुलक उठा। तनी हुई देह ज़रा ढीली पड़ गई और उसने अपनी जीभ होंटोंपर फेरी, पर न कम्प, न भागनेका प्रयत्न, एकदम स्थिर, यह कैसा चूहा है? वह फिर तन गई और कुछ ही क्षणोंमें फिर ढीली हो चली।

"ठीक, मेरी आँखोंको धोखा; जैसे मैं आपको बिना पहचाने यों ही आगे निकल जाऊँगी! जाने चूहेके कितने नाटक मैं देख चुकी—तुम्हारी जातिकी सब बदमाशियोंसे परिचित हूँ मैं! अच्छा, आओ, अब तुम्हारा नाश्ता किया जाये।"

उसने यह सब सोचा और एक क़दम बढ़ी। बढ़ी कि एकदम सन्न! अगर यह साँप हो?

याद आ गया उसे। उस दिन उसकी मांने चूहा समझकर साँपको छेड़ दिया। पलभरमें वह उसकी पसलियोंको लिपट गया और तब

उतरा, जब वह मिट्टीका ढेर हो गई। माकी कराहमें कितना दर्द था और उसके मुँहसे नीले-नीले कैसे झाग निकल रहे थे !

कई मिनट वह तनी खड़ी रही। समयने उसे साहस दिया। वह एक पग आगे बढ़ी—"यह साँप नहीं है, चूहा है, ओह, कितना धूर्त !" एक पग उसने और बढ़ाया, पूरी तरह उसे देखा और झपाटेके साथ उसपर पंजा चलाया। उसके पंजेको कुछ लिपट गया—गीला-गीला, ठण्डा-ठण्डा।

पलक मारते वह चारों पैर समेटे, धनुष-सी उछली और अपनी जगह आ गई और अपनी जगह आई कि एकदम सीधी तनकर खड़ी हो गई। पैर आगे-पीछे, पूँछ उठी हुई, गर्दन ज़रा झुकाये, सिर सधा और दायाँ पंजा नये आक्रमणके लिए प्रस्तुत। शत्रुकी ओरसे, पर उसे कोई चैलेंज न मिला।

उसने देखा—शत्रुकी ऊँचाई पंजेके पहले ही वारमें बिखरकर आधी रह गई है। कुछ क्षण वह इसी मुद्रामें ठहरी, पर उसका दिमाग़ अपना काम करता रहा। अब वह धीरे-धीरे आगे बढ़ी—शत्रुकी एकदम सीध तक !

'क्या है यह ?' पंजेको सूँघकर वह आश्वासन पा गई थी। फिर भी एक बार उसने सोचा और बहुत सावधानीसे, अपना दाहिना पंजा साधे, सिर बढ़ाकर, उसने उसे सूँघ लिया। शरीरका तनाव ढीला पड़ गया और अपने पंजेकी चार-पाँच चोटोंसे उसने उसे ज़मीनमें मिला दिया।

वह गीली मिट्टीका एक ढेला था !

पेंसिल-स्कैच

सुमतिने दसवींसे बी० ए० तक विश्वविद्यालयमें किसीको अपनेसे आगे न जाने दिया—वह सर्वप्रथम रहती आई और एम० ए० के पहले सालमें जितने नम्बर उसने पाये, उन्होंने आख़िरी सालमें उसे पछाड़नेकी होड़ करनेवालोंके हौसले पस्त कर दिये।

पढ़नेमें ही नहीं, बोलनेमें, गानेमें और मिलने-जुलनेमें वह विश्व-विद्यालयका चाँद थी।

वह अपने प्रान्तसे दूर, एक दूसरे प्रान्तमें अध्ययन कर रही थी और कभी छुट्टियोंमें भी अपने घर न जाती थी। यों ही उड़ती-सी चर्चा थी कि वहाँ यौवनके आरम्भमें ही उसके मनपर एक चोट पड़ी थी।

एम० ए० का दूसरा वर्ष आरम्भ होते-होते चर्चा उड़ी कि उसके सहपाठी प्रदीपके साथ उसके विवाहकी बात पक्की हो गई है। प्रदीप तो इस बातको साथियोंमें साफ़ कहता ही था, पर सुमति भी इसका प्रतिवाद न करती थी।

अगस्त आते-आते प्रदीपने एक धनी पुरुषकी कन्यासे अचानक विवाह कर लिया और पत्नीके साथ अध्ययन करने विदेश चला गया।

सुमतिने भी तभी विश्वविद्यालय छोड़ दिया और जाने अचानक वह कहाँ चली गई। दिसम्बरमें उसके विवाहका समाचार साथियोंने सुना और जनवरीमें वह एक दिन विश्वविद्यालयमें आई, तो उसके पति भी साथ थे।

साथियोंने आश्चर्यसे देखा कि वे एक अधेड़ सज्जन हैं। वे सब एक अलग कमरेमें उसे घेरकर बैठ गये और आग्रहपूर्वक इस सम्बन्धमें नये-नये प्रश्न पूछने लगे।

सुमतिने वहीं बैठे-बैठे एक कागज़पर कुछ लकीरें खींचीं और वह साथियोंकी तरफ़ उसे फेंक कमरेसे बाहर अपने पतिके पास चली आई।

उस काग़ज़पर बने पेंसिल-स्कैचमें बाईं तरफ़ एक पुराना बड़का पेड़ था और दाईं तरफ़ एक लड़का गैसका गुब्बारा उड़ा रहा था!

असन्तोष

मैंने उन्हें पहली तारीखको १०० रुपयेका नोट दिया कि वे महीनेभरका उसे अपना जेबख़र्च समझें।

मुन्नी जब प्रतिदिन स्कूल जाती; तो मेरे पास आती और उसे एक इकन्नी दे देता। इस तरह एक महीनेमें उसने एक रुपया पन्द्रह आने लिये।

महीनेके अन्तमें मुन्नी मुझसे सन्तुष्ट थी, पर वे असन्तुष्ट। उनका असन्तोष यह था कि मैंने उनकी उपेक्षा की और उन्हें प्रतिदिन इकन्नी नहीं दी।

झरना हँसा

झरना बहा जा रहा था, जाने किधर, जाने क्यों ?

गाँवकी एक किशोरी आई और उसने अपना कटोरा भर लिया।

तभी आई एक दुलहन; उसने अपना घड़ा भर लिया।

किशोरीने देखा—दुलहन घड़ा भरे सामने दूसरे तटपर खड़ी है।

तभी उसने देखा—उसके हाथमें एक छोटा-सा कटोरा ही है। घृणासे उसने झरनेकी ओर देखा और तब क्रोधने कहा—"तुम बड़े बेइन्साफ हो जी !"

"क्यों, क्या बात है ?"

"देखते नहीं कि उस दुलहनको तो तुमने इतना पानी दिया कि वह बोझसे दबी चले और मुझे दिये ये चार चुल्लू !"

किशोरीने क्रोधसे जलकर अपने कटोरेका पानी धरतीपर फेंक दिया।

झरना कुछ कहनेको ही था कि किशोरीके पास एक भिश्ती आकर खड़ा हो गया और उसने अपनी भारी मशक पानीसे भर ली !

झरनेके अट्टहाससे सारा दिङ्मण्डल गूँज उठा।

किशोरी अपना खाली कटोरा लिये खड़ी थी, दुल्हन घड़ा और भिश्ती मशक !

दो बहनें

रामो और गोविन्दी दो सगी बहनें हैं, पर दोनोंके स्वभावमें दूरका अन्तर है।

रामोमें सादगीकी सरसता है, गोविन्दीमें दम्भकी चास है। रामो-की भोली आँखोंमें प्यारका निर्मल रस है, गोविन्दीकी चपल आँखोंमें नम-कीन बाँकपन।

इन्हीं सरदियोंमें दोनोंकी शादी भजन और बलदेवासे हुई है। ये दोनों रेलवेके नये कुली हैं।

भजन जब अपना लाल कुरता और नीला साफ़ा सम्भालकर आधी-रात पंजाब मेलपर जानेको उठता है, तो रामो नीची आँखों धीमी आवाज़में कहती है—"अब क्या करोगे जाकर, दिनभर मेहनत करके थक जाते हो। रातदिन मारामार करके चुपड़ी खानेसे दिनभरकी राजी-खुशी मेहनतमें रूखी खाना कहीं अच्छा है।"

बलदेवा जब गोविन्दीकी सुरमीली आँखोंमें आँखें डालकर अँगड़ाई लेने लगता है, तो वह कहती है—"अँगड़ाइयाँ क्या तोड़ रहे हो, जाओ मेल देख आओ। खाली दिनकी कमाईमें क्या होता है। महीनेमें खा-पीकर चार रुपये बचेंगे, तो एक धोती आ जायेगी!"

रामो और गोविन्दी सगी बहनें हैं, पर दोनोंके स्वभावमें दूरका अन्तर है!

धन्नू भगत

उनका नाम तो है धनपत राय, पर सब उन्हें कहते हैं धन्नू भगत। अब तो यही नाम समझिये उनका।

तिमंजिली हवेली है उनकी और लोग कहते हैं, लाखों रुपये उनके पास हैं।

कोई दूकान या व्यापार वे नहीं करते, फिर यह धन कहाँसे आया उनके पास, यह प्रश्न सदैव उनके चारों ओर घूमता रहा है। वे स्वयं भी अपनी सुख-समृद्धि स्वीकार करते हैं और हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर और आँखें आधी मूँदकर वे कहते हैं—सब सन्तोंकी कृपा है।

साधु-सन्तोंके वे सेवक हैं। लालनाथकी कुटियापर वे नित्य सुबह-शाम जाया करते हैं और वहाँ जो साधु-महात्मा नये या पुराने हैं, सबकी आवश्यकताएँ पूछकर उन्हें पूरा किया करते हैं। किसीके लिए रजाई, तो किसीके लिए मिरजई, किसीके लिए कौपीन, तो किसीके लिए चादर उनके यहाँ बनती ही रहती है। दो-चार मूर्तियोंकी भोजन-भिक्षा तो उनके घरका नित्य-नियम ही हो गया है।

अपनी जानको जोखममें डालकर भी वे साधुओंका धन अपने यहाँ धरोहर रख लेते हैं और उसे किसी काममें लगा देते हैं। इससे वह धन बढ़ता ही रहता है।

बहीखातेमें भगतजी बड़े स्पष्ट हैं। जब यात्रा करते-करते कभी वे स्वामीजी फिर नगरमें आते हैं, तो भगतजी उन्हें बहीका वह पन्ना अवश्य दिखा देते हैं, जिसपर उनका हिसाब लिखा होता है। स्वामीजी स्वयं देख लेते हैं कि मूलधन तो जमा है ही, उसका सूद या लाभ भी उसमें जमा है।

रुपया तो भगतजीके हाथमें होता नहीं, पर वे सन्तोंका कष्ट भी नहीं देख सकते, इसलिए जाते समय १०–२०–५० रुपये अपने पाससे उन्हें दे देते हैं। इस तरह यह हिसाब तब तक चलता ही रहता है, जब तक स्वामीजी मुक्त होकर भगवान्में लीन नहीं हो जाते।

साधुसन्तोंका उनमें अखण्ड विश्वास है। वे मानते हैं कि यदि हम हज़ार कोससे भी भगतजीको लिखते हैं, तो तुरन्त रुपया डाक-तारसे पहुँच जाता है। इस तरह भगतजीकी वहीमें सन्तोंका धन ही नहीं, मन भी सुरक्षित है।

भगतजी साधुओंको ईश्वरका ही स्वरूप मानते हैं और प्रातः कहा करते हैं—सन्तोंकी कृपासे राईका पहाड़ हो जाना भी सम्भव है।

भगतजीके पिताजी ठाकुरद्वारेकी प्याऊपर पानी पिलाते मरे, पर आज धन्नू भगतकी हवेली तिमंजिली है और लोग कहते हैं उनके पास लाखों रुपये हैं।

छोटे वृक्ष

विशाल वृक्षने, अपनी छायामें खड़े और अपनी महानताके प्रभावमें सकुचे-झुके-से कुछ छोटे वृक्षोंकी ओर देखकर कहा—"मैं कितना विराट् हूँ और तुम कितने क्षुद्र !"

छोटे वृक्षोंने कहा—"हाँ, हम छोटे हैं और तुम विराट् हो, पर जानते हो, तुम हमारे कलेजेका रक्त पीकर ही इतने विराट् हुए हो !"

बड़े वृक्षका दिमाग़ भन्ना उठा। घृणाके स्वरमें उसने कहा—"तुम्हें मैंने अपनी छायामें आश्रय दे, सूर्यकी जलती धूप और बादलोंकी बौछारोंसे सदा बचाया। इस उपकारके बदले, यह जीभ लपलपाते तुम्हें शर्म नहीं आती कृतघ्न !"

छोटे वृक्षोंने कहा—"जी हाँ, आपके उपकारोंसे हमारा रोम-रोम दबा हुआ है और हम आपके बहुत ही कृतज्ञ हैं कि आपने सदैव हमारा भोजन स्वयं ग्रहण कर, हमें अजीर्णका शिकार होनेसे बचाया !"

व्यंगके इस पैने प्रहार पर विशाल वृक्ष हुंकारकर रह गया।

क्यों रो रहे हो ?

कलाकारने न दिनको दिन समझा, न रातको रात। न उसे भोजनकी चिन्ता रही, न नींदका ज्ञान। वह यह भी भूल गया कि संसारमें कहीं कोई उसका सगा-सम्बन्धी भी है। अपनी छेनी और हथौड़ी लिये वह जुटा रहा एक पत्थर पर।

हाँ, संसारके लिए वह पत्थर ही था। एक पत्थर, जैसे और हज़ारों-लाखों, पर कलाकारकी तो दुनिया उसीमें समाई हुई थी।

यों ही चार-पाँच साल बीत गये। वह पत्थर अब एक प्रतिमामें बदल गया था, जिसके ओठोंपर स्वर्गकी मुस्कान, जिसकी प्रकृतिमें पृथ्वीकी आत्मा-का प्रतिबिम्ब।

वह अपनी इस कृतिको देखकर स्वयं मुग्ध हो गया—जिस छोटे-से गाँवमें वह रहता था, वहाँ उसकी कलाको परखनेवाला और था ही कौन ?

वह अपनी कलाको अन्तिम स्पर्श दे ही रहा था कि युद्ध छिड़ गया। एक विदेशी सत्ताने उसके देशके सम्मानको चुनौती दी थी। कलाकार-की देशभक्ति जाग्रत थी; उसने छेनी रख दी और बन्दूक उठा ली। अपनी प्रतिमाको अपने घरमें बन्दकर, वह सिपाहीका वेश साजे, रणभूमिमें जा उतरा।

युद्धकी सघर्षमयी घड़ियोंमें जब ज़रा-सा भी विश्राम उसे मिलता, वह अपनी प्रतिमामें डूब जाता। उसके कन्धोंके उभारमें ज़रा-सी खराश दूर करनी है। वक्षपर ज़रा-सा उभार देना है। बाहुकी मछलियोंमें एक हल्का-सा गोलाव छूना है। मस्तकपर भी ज़रा चिकनाई लानी है। वह सोचता और सोचता ही रह जाता।

युद्ध समाप्त हुआ कि वह घरकी ओर लपका। सारी राह वह अपनी

प्रतिमाके ही ध्यानमें डूबा रहा। गाँव दीखा कि उसका दिल उछलने लगा।

गाँवके गोरे वह पहुँचा, तो उसे अपने कुछ पड़ोसी मिले।

एकने कहा—"भाई तुम्हारा घर तो इस बरसातमें गिर गया।"

दूसरेने कहा—"उसका सब सामान भी नष्ट हो गया।"

"और मेरी प्रतिमा?" विह्वल हो उसने पूछा।

"वह तुम्हारा पत्थर?" कई कण्ठ एक साथ खुले।

"हाँ, वह तो सुरक्षित है?"

"हाँ, वह तो सुरक्षित है।"

कलाकारका काला पड़ गया चेहरा फिरसे चमक उठा।

"तुम्हारा वह पत्थर बड़े कामका है भैया!" तभी एक पड़ोसीने कहा।

कलाकार खिल गया—"अच्छा, अब तुम लोग भी उसका मूल्य समझ गये?"

"हाँ भैया, मैंने उसे उठाकर कुएँ पर डाल दिया था। अब गाँव भरकी स्त्रियाँ उसपर कपड़े धोया करती हैं।"

दूसरा पड़ोसी उत्साहसे बोला—"सारे गाँवको उससे आराम है। पहले अपने गण्डासे और खुरपे तेज़ करनेको हमें नदीके पुलपर जाना पड़ता था। अब हम तुम्हारे पत्थरपर रगड़ा देकर ही पैना लेते हैं। बहुत ही अच्छा पत्थर है तुम्हारा!"

तीसरा बोला—"भैया, अब हम तुम्हें नहीं देंगे उसे; अब तो वह हमारा हो गया है।"

कलाकारकी आँखोंसे तभी दो बड़ी-बड़ी बूँदें टपक पड़ीं।

पड़ोसी पूछ रहे थे—"क्यों भैया, तुम रो क्यों रहे हो?"

दिनचर्या

सेठ चमनलाल भक्त-आदमी हैं। माथेपर चन्दन और गलेमें माला; यह जैसे उनका ट्रेडमार्क है। मिलते ही सबको हाथ जोड़ते हैं और मुसकराकर कहते हैं—जय सियाराम, जय सियाराम। किसीके घर सुख हो या दुख, दौड़कर जाते हैं और हज़ार काम हों, दो घड़ी बैठे बिना नहीं आते। उनके स्वभावने उनका नामकरण ही भक्तजी कर दिया है।

सारे दिन भक्तजी काममें लगे रहते हैं। बुढ़ापेमें भी कितना पुरुषार्थ है उनमें!

सुबह उठते ही जंगलमें चींटियाँ जिमाने जाते हैं। वहाँसे आकर अपने दीवानजीको नई नालिशोंका मसविदा लिखाते हैं। रोज़ बेचारोंको दो-चार नालिशें करनी ही पड़ती हैं। आजकल कोई लेकर फिर देना ही नहीं चाहता। भक्तजी हमेशा सौ देकर दो सौ लिखा लेते हैं। न लिखावें, तो क्या करें; खर्चा बहुत पड़ता है और भागते-भागते कारिन्दोंकी चप्पलें घिस जाती हैं।

फिर अपनी गद्दीपर बैठे राम-नाम जपते रहते हैं।

तीसरे पहर गोशालामें जाते हैं और अपने सामने गौवोंको घास-दाना खिलवाते हैं। कर्मचारी बड़े बेईमान हैं। वे कम्बख्त गोमाताके भागमेंसे भी हड़पना चाहते हैं।

गोशालासे लौटकर भक्तजी मन्दिरमें पूजा-कीर्तन करते हैं और तब भोजन कर अपनी भीतरकी बैठकमें जा बैठते हैं। वहाँ शहरके क़सा-इयोंसे लेनदेनकी बातें करते हैं। इन बेचारोंको भक्तजी रुपया उधार न

दें, तो बेचारोंके बालबच्चे भूखों मर जायँ। भक्तजीकी दया सम-दर्शी है।

बैठकसे उठकर वे अपने पलंगपर जा लेटते हैं और राम-नाम जपते हुए ही सो जाते हैं! सेठ चमनलाल भक्त आदमी हैं। लोग दूरसे देखते ही उन्हें हाथ जोड़ते हैं।

लारी और बैलगाड़ी

"पों पों, ऐ ! हटो आगेसे। कच्चेमें चलो। तारकूलकी यह काली सड़क तुम्हारे लिए नहीं है !"

अभिमानके स्वरमें लारीने बैलगाड़ीसे कहा। नम्रतासे बैलगाड़ीने उत्तर दिया—"बहन, यह तो काफ़ी राह पड़ी है, तुम ही ज़रा बचकर निकल जाओ।"

लारीका क्रोध भड़क उठा। डपटकर उसने कहा—"जवाब देती है बदतमीज़, हट आगेसे, मुर्दे बैलवाली !"

व्यंगकी मुद्रामें बैलगाड़ीने कहा—"हाँ, हाँ, तुम बड़ी रूपसी हो बहन, पर किया क्या जाये; आखिर तुम लोहा ही हो और मेरे इन मुर्दे बैलोंमें धड़कता जीवन है।"

लारीके अभिमानको यह गहरी ठेस लगी। क्रुद्ध सर्पिणीकी भाँति वह फुंकारी—'पों, पों !'

बैलगाड़ीने प्यारसे कहा—"बहन, तुम दुखी न हो। लो कच्चीपर मैं ही चल लूँगी। तुम खुशीसे इकले ही पक्कीपर चलो। कुछ भी हो, तुम परदेशी हो और आजकल मेरे देशमें मेहमान हो। मेरे लिए यह उचित नहीं है कि मैं तुम्हारा मन मैला होने दूँ, पर बड़ी बहनके नाते मेरी इतनी बात तुम भी मान लो कि मेहमानके लिए भी यह उचित नहीं है कि वह मेज़बानके घरपर क़ब्ज़ा कर ले और उसे डाटे !"

अत्यन्त निर्लज्जतासे लारीने कहा—"तुम्हारी जाति मूर्ख है, जो इसे अनुचित समझती है। हमारी जातिमें तो यह नीति-पूर्ण वीरता ही समझी जाती है।"

बैलगाड़ीपर धूल उड़ाती लारी आगे निकल गई। इसी समय बैल-गाड़ीकी घण्टी टुनटुना उठी। यह शायद उसके हृदयका निःश्वास था !

मनुष्य

शिष्यने श्रद्धासे नम्र हो प्रश्न किया—

"मनुष्य क्या है ?"

आचार्यने प्रसन्न हो, उत्तर दिया—"मनुष्य मिट्टीका एक लौन्दा है, जो न जाने कब कहाँ भुर जाये !"

शिष्यने उत्सुक हो पूछा—"फिर राम और कृष्ण, बुध और महावीर, ईसा और गान्धीका इतना महत्त्व क्यों है ?"

आचार्यने कहा—"प्रेमकी व्यथाने उन्हें मनुष्यकी मरताने देवताके अमरत्वमें अधिष्ठित कर दिया है, इसलिए !"

शिष्यने कहा—"समझा आचार्य, प्रेमकी व्यथामें अणुको विराट् करनेकी क्षमता है ।"

तीन मित्र

तीन मित्र अलग-अलग राधामोहनके पास आये और तीनोंने उसकी नई पुस्तककी प्रशंसा की ।

एकने कहा—"आप इस पुस्तकसे अमर हो गये ।" दूसरेने कहा—"ऐसी पुस्तक पहले कभी नहीं देखी ।" तीसरेने कहा—"आपकी पहली पुस्तकोंसे यह निश्चय ही श्रेष्ठ रही ।"

उनके जानेके बाद राधामोहनने कहा—"इनमें एक था खुशामदी, दूसरा बेवकूफ और तीसरा आलोचक ।"

किसके चरणोंमें ?

एक शक्तिशाली पत्रकारने अपने पत्रमें किसी नागरिक प्रश्नपर एक ज़ोरदार लेख लिखा। वातावरणमें उससे हड़कम्प मच गया और अत्याचारी क्रोधसे काँप उठे। चर्चा रही कि पत्रकारको कानूनके शिकंजेमें पीसनेके लिए जाल बुना जा रहा है। रोज़ नई खबरें उड़तीं, पर अन्तमें वे सब अफवाह बन कर ही रह गईं।

एक दिन जिलाधीश किसी सभामें पत्रकारसे मिले। इधर-उधरकी बातोंके बाद धीरेसे बोले—"मैं आपका बहुत सम्मान करता हूँ और मैं नहीं चाहता कि मेरे समयमें आपको कष्ट हो। इसलिए उस लेखपर सरकारी वकीलने मुक़दमा चलानेकी बात कही, तो मैंने उसे डाट दिया।"

एक चायपार्टीमें सरकारी वकीलने धीरेसे पत्रकारके कानमें कहा—"मैं आपका बहुत सम्मान करता हूँ, इसलिए जिलाधीशने आपके लेखपर केस तैयार करनेकी बात कही, तो मैंने उसे डाट दिया।"

पार्कमें एक संस्थाके प्रधान मिले, तो पत्रकारसे बोले—"जिलाधीश और सरकारी वकील आपके लेखपर केस चलानेकी तैयारी कर चुके थे, पर मैंने दोनोंसे साफ़ कह दिया कि केस चला, तो उसके विरोधमें मैं आम-जल्सा करूँगा।"

कृपापर कृतज्ञ न होना कृतघ्नता है, पर पत्रकारकी परेशानी यह है कि वह अपनी कृतज्ञताके पुष्प किस उपकारी प्रतिमाके चरणोंमें चढ़ाये ?

बन्दूक

फ़ौजकी एक टुकड़ी चली जा रही थी—क्विकमार्च ! तीन साथियोंने उसे देखा ।

पहलेने कहा—कितनी शानदार यूनीफ़ार्म है ।

दूसरेने कहा—हमारे सिपाही कितने सबल सुन्दर हैं ।

तीसरेने कहा—आदमीके कन्धेपर आदमीकी मौत सवार है, जिसे हम बन्दूक कहते हैं ।

वृद्ध और युवक

वृद्धने कहा—"संयम ही शक्तिका स्रोत है !"

वृद्धके स्वरमें अनुभवकी स्थिरता थी, उपदेशका गाम्भीर्य था ।

युवकने कहा—"बिजार अपने प्रदेशमें गर्भाधानका एक मात्र पुरोहित है और वृषभ संयम की साकार प्रतिमा, पर दोनोंमें शक्तिका अग्रदूत है बिजार और बैल उसे देखकर काँपा करता है !"

युवकके स्वरमें तरुणाईका चांचल्य छलक रहा था ।

"कुछ भी हो, शक्तिका स्रोत तो संयम ही है !" वृद्धके मुखपर झल्लाहट थी । प्रतिवाद उसके लिए असह्य है । वह चाहता है नम्र आज्ञापालन ।

"संयम जीवनका महान् तत्त्व है, पर शक्तिका स्रोत है स्वतन्त्रता !" युवकके मुखपर शोख़ी थी । प्रतिवाद यौवनका स्वभाव है ।

रण-दुन्दुभि

विश्वकी शान्ति-परिषद्में संसारके प्रमुख विचारकोंने युद्धका विरोध किया।

अस्त्रोंके निर्माता चौंके।

फ़ौजी अफ़सरोंको अपने भविष्यकी चिन्ता हुई।

रणदुन्दुभिने कहा—"जब तक मेरा अस्तित्व है, युद्ध होते रहेंगे; तुम कुछ चिन्ता न करो।"

"और ये विचारक ?" रणदुन्दुभि हँसी—"इनकी आवाज़ मेरी पहली ही गूँजमें इस तरह खो जायेगी जैसे बादलकी गड़गड़ाहटमें झींगुरोंकी सीटी खो जाती है।"

कारखानोंकी चिमनियाँ निश्चिन्त हो, धुवाँ उगलने लगीं और फ़ौजी फिरसे अपनी परेडमें जुट गये।

सामने और पीछे

सेठ शम्भुनाथ नगरके बहुत ही प्रतिष्ठित नागरिक थे।

वे अपने बैंकके सर्वेसर्वा, रामलीला कमेटीके सभापति और म्यूनिसिपल बोर्डके चेयरमैन थे।

उनकी पत्नीका उस दिन देहान्त हो गया, तो सारे शहरमें जैसे शोक छा गया और कोई दस हज़ार आदमी श्मशान-यात्रामें सम्मिलित हुए।

सबने कहा—कितना मान करते हैं लोग सेठ शम्भुनाथका !

उस दिन अचानक सेठ शम्भुनाथका हार्टफेल हो गया।

उनके मित्रोंमें शोक छा गया और कोई पाँच सौ आदमी उनकी श्मशान-यात्रामें साथ गये।

शेष लोग इस चर्चामें व्यस्त थे कि अब चेयरमैन कौन हो ?

उन्नति

१९३०

रामू मिलमें मजदूर है। काम करता है, वेतन पाता है। वेतन-जीनेका साधन: जीना—खींचतानकर पहली तारीखसे तीस तारीख तक साँस लेना !

रामूकी पत्नीमें दर्द है—महीनों हो गये। वैद्यजीकी पुड़िया और हकीमजीके नुसखेसे फ़ायदा नहीं हुआ।

रणजीतने उससे कहा—"डाक्टर रामनाथको दिखा दे एक बार भैया !"

रामूने साँस लेकर कहा—"दिखा तो दूँ, पर चार रुपये कहाँसे लाऊँ उसकी फ़ीस? बिना फ़ीस पहले लिये वह बात भी नहीं करता—अपनी मशीनको धड़कन पर तो क्या धरेगा?"

"तो क्या चार रुपयेके लिए जान दे देगा?" रणजीतने पूछा।

"चार रुपये अरे भाई, मजदूरोंमें चार पैसे भी कुबेरका खज़ाना है!"

१९४०

रामू मिलमें मज़दूर है। काम करता है, वेतन पाता है। वेतन जीनेका साधन: जीना पहली तारीखसे तीस तारीख तक गुज़ारा कर लेना!

पत्नीको फेफड़ेकी तकलीफ़ है—महीनों हो गये, वैद्यजीकी पुड़िया और हकीमजीके नुसखेसे फ़ायदा नहीं हुआ। मिलका डाक्टर भी बराबर दवा दे ही रहा है, पर पता नहीं उसकी दवाओंमें क्या भूल भरा है कि देहको लगती ही नहीं।

रणजीतने कहा—"डाक्टर रामनाथको दिखा दे भैया एक बार!"

रामूने गम्भीर होकर कहा—"बच्चोंका दूध महीनेभर बन्द करके पिछले महीने चार रुपये जोड़े थे और रामनाथको दिखाने गया था। क्या बताऊँ रणजीत, दस बरसमें वहाँकी दुनिया ही बदल गई। पहले किरायेका मकान था, अब अपनी दुमंजिली कोठी है। बाहर नई मोटर खड़ी थी—चमचम कि मुँह देख लो!"

रामू चुप हुआ, तो रणजीतने पूछा—"क्या बताया उसने भाभीको?"

"बताया तेरा और मेरा सिर!" रामूने कहा।

"अरे भाई, जब डाक्टरके घर गया था, तो कुछ तो कहा ही होगा उसने!" रणजीतने पूछा।

"कहता, तो तब, जब वो तेरी भाभीकी नब्ज पकड़ता। अब बाहर बरामदेमें एक और बाबू बैठने लगा है। उसने कहा—"लाओ फ़ीस" तो मैंने चार रुपये उसकी मेजपर धर दिये। बोला—"अब डाक्टर साहबकी फ़ीस आठ रुपये है।" मैंने उसे अपनी ग़रीबीकी बात कही, तो बोला—ग़रीब है, तो यहाँ क्यों आया—सरकारी अस्पतालमें जा!" क्या करता, अपने घर चला आया।

१९५२

रामू मिलमें मज़दूर है। काम करता है, वेतन पाता है। वेतन-जीनेका सहारा; जीना पहली तारीखसे तीस तारीख तककी ज़रूरतें पूरी करना। वेतन, मँहगाई और बोनस; तीनोंका रुपया रामूकी मुट्ठीमें आता है, तो एक बार तो वह राजा हो जाता है।

रामूका छोटा लड़का बीमार है—महीनों हो गये! वैद्यजीकी पुड़िया और हकीमजीके नुसखेसे फ़ायदा नहीं हुआ। मिलका डाक्टर भी बराबर दवा दे रहा है, पर चार दिन उभारा आता है, तो एक दिनमें चुस जाता है। पता नहीं, क्या भूमिया रूठ रही है।

रणजीतने कहा—"मुन्ना हाथों आया जा रहा है, इसे डा० रामनाथको क्यों नहीं दिखा लेता रामू ?"

रामूको ज़ोरसे हँसी आ गई। बोला—"गया तो था इसे लेकर एक दिन। बाहर वाला बाबू बोला—अब डाक्टरकी फ़ीस दस रुपये हो गई है, दो रुपये और निकालो! मुझे उसी दिन बोनसके तीन रुपये मिले थे। मैंने मनमें कहा—अबे, अकड़ता क्यों है, ले दो रुपये और चाँदीके दो सिक्के ठकसे उसकी मेज़पर रख दिये।

नम्बरकी घण्टी बजनेपर मैं डाक्टरके पास गया, तो वह पहचानी ही नहीं पड़ा—दस बरसमें फूलकर मोंकसे शहतीर हो गया है पट्ठा। मुन्नेको देखकर नुसखा लिख दिया और कहने लगा—बीमारी ज्यादा है, एक महीना इलाज चलेगा। दवा दो और दूध-फल-मक्खन खिलाओ।

मैंने मनमें सोचा—फ़िकर क्या है, समझ लेंगे बोनस नहीं मिला, पर बच्चेके लिए सब कुछ करेंगे। नुसखा लिये मैं दवावालेकी दूकानपर गया, तो उसने एक बार नुसखा देखा और एक बार मुझे। तब बोला—"रुपये भी हैं जेबमें ?"

मैंने कहा—"रुपये न होते, तो डाक्टर रामनाथकी सूरत क्यों देखता: सरकारी अस्पताल न जाता सीधा !"

वह दवा बनाने लगा, तो मैंने पूछा—"कितनेकी दवा है भाई ?"

बोला—"पन्द्रह दिनकी दवा बाईस रुपयेकी है।" सुनकर क्या बताऊँ रणजीत, मैं नुसखा वहीं छोड़कर भाग आया और बस उस दिनसे अपने ही डाक्टरका कड़वा पानी इसके गलेमें डाल रहा हूँ। सोच लिया है—डाक्टर रामनाथ हमारे लिए नहीं है, फ़िजूल भटकनेसे क्या फ़ायदा !

इंजीनियरकी कोठी

मेरे नगरमें नहरके जो नये इंजीनियर आये हैं, वे साहित्यमें अभिरुचि रखते हैं, इसलिए मेरा भी उनसे मेलजोल हो गया है।

मुझे उनकी कोठीपर कभी-कभी जाना भला लगता है। बात यह है कि वह कोठी अपनेमें इतनी पूर्ण है कि देखकर आश्चर्य होता है,। इंजीनियर साहबकी भोजन-मेज़पर जब भी कोई ऋतुका फल आता है, वे कहते हैं—यह कोठीके बागका फल है भाई साहब !

मैं जब-जब उनके यहाँ जाता हूँ, तो उनकी कोठीका पूरा एक चक्कर अवश्य लगाता हूँ। कोठी तो क़ायदेसे बनी है ही, उसका बग़ीचा भी बहुत करीनेसे लगाया गया है। कहा जा सकता है कि वह पारिवारिक उपवन है—एक परिवारके लिए आवश्यक सभी चीज़ें उसमें हैं।

उस दिन मैं वहाँके बड़े मालीसे बातें कर रहा था कि मुझे खोजते इंजीनियर साहब भी आ गये। उन्हें देखते ही माली बोला—"सरकार, अपने बाद आनेवालोंके लिए आप भी कोई पेड़ लगा दीजिये।"

मैंने पूछा—"अपने बाद आनेवालोंके लिए! क्या मतलब?"

बूढ़ा माली हँसा। तब बोला—"बाबूजी, इस कोठीका कुछ रिवाज़ ही ऐसा है कि यहाँ अपने करमका फल कोई नहीं भोगता!"

बात उलझ गई थी, उसे सुलझाते हुए-से मैंने पूछा—"फिर किसके कर्मोंका फल यहाँ भोगते हैं भाई?"

"दूसरेके कर्मोंका फल बाबूजी!" बात सुलझ न पा रही थी; मैंने कहा—"ठीक-ठीक समझाओ माली जी!"

बोला—"बाबूजी, जब कोठी बनी, तो यह बागवाली ज़मीन खाली पड़ी थी। बस कोठीके सामने थोड़ी-सी फुलवारी थी; और कुछ नहीं।

सबसे पहले मैकडोनल साहब आये। उन्होंने इसमें दो पेड़ कलमी आम और दो पेड़ लौकाटके लगवाये। अपने आप पानी दिया करते थे वे इनमें, पर बाबूजी, जिस साल लौकाटपर फुँगरी लगी, उनकी बदली हो गई। जाते-जाते भी वे इस लौकाटको ही देखते रहे।

उसके बाद हार्ट साहब आये। उन्होंने खूब लौकाट और आम खाये और नाखके ये दो पेड़ लगाये, पर जिस साल नाख फला, वे विलायत चले गये। बस यूँही नये-नये साहब आते गये और बाग बढ़ता गया। आज जो फालसा आपने खाया है, यह हमारी सरकारसे पहलेवाले साहब-ने लगवाये थे दो पेड़! जाने क्या बात है सरकार, कि इस कोठीमें किसी-को अपने लगाये पेड़का फल नहीं मिलता। पता नहीं ऊपरवालोंको कुछ चिढ़ है क्या कि ऐसे ही समयपर वे हमारे साहबोंकी बदली करते हैं।"

इंजीनियर साहब चुप थे। वे शायद कुछ सोच रहे थे कि बागमें क्या लगाया जाये, पर तभी मैंने कहा—कोठीका बाग ही क्या, सारे विश्वका विकास ही इस पद्धतिपर हुआ है कि हम अपने पूर्वजोंके परिश्रमका फल भोगें और आनेवालोंके लिए परिश्रम करें!

इंजीनियर साहबने कहा—"आनेवाले हमें मानके साथ स्मरण करें या फिर गालियोंके साथ, यह इस बातपर निर्भर है कि हमारा आजका निर्माण किस कोटिका है।"

मैं सोच रहा था—तो हमारा वर्तमान ही नहीं हमारा भविष्य भी हमारी ही मुट्ठीमें है—जीवन ही नहीं, स्वर्ग भी!

दो मित्र

मैं उस दिन अचानक संकटमें पड़ गया, तो मेरे दो मित्र मेरे पास आये।

एकने कहा—"यह सही है कि मेरा मस्तिष्क और हृदय अस्वस्थ है, पर मेरे हाथ-पैर खूब काम करते हैं। तुम चिन्ता न करो, मैं तुम्हारी सहायताके लिए प्रस्तुत हूँ।"

दूसरेने कहा—"यह सही है कि मेरे हाथ-पैर अस्वस्थ हैं, पर मेरा मस्तिष्क और हृदय खूब काम करते हैं। तुम चिन्ता न करो, मैं तुम्हारी सहायताके लिए प्रस्तुत हूँ।"

मैंने पहलेको धन्यवाद देकर विदा कर दिया और दूसरेको अपने संकटमें साझी बनाकर निश्चिन्त हो गया।

रामनाम सत्य है !

कुछ लोग मुर्देको कन्धोंपर लिये जा रहे थे।

जो सारे जीवन घिसटकर चले, वे भी यहाँ—प्रगतिशील हो जाते हैं।

रामनाम सत्य है।

दर्शकोंमें किसीने कहा—"बेचारा अपनी राह पूरी कर गया।"

एक साधु कहींसे आ निकले। बोले—"हाँ भाई, अपनी राह तो पूरी कर ही गया, पर हमें भी हमारी राह दिखा गया !"

मैंने राह चलते योंही यह बात सुनी, तो अपनेसे कहा—"रामनाम सत्य है" मृत्युका अभिनन्दन ही नहीं, जीवनका निमन्त्रण भी है।

मेरा घर

नरेश मेरा विद्यालयका साथी था।

विद्यालयके बाद बरसों बीत गये, मिलनेका मौका ही न लगा। काश्मीर जा रहा था कि राहमें उतर पड़ा एक दिनके लिए।

नरेशका नगर बीचमें ही था!

नरेश धनी बापका बेटा। बड़ा घर, बड़ा बाग, बड़े ठाट। मुझे सब कुछ दिखाकर बोला—"आया पसन्द मेरा घर?"

"हाँ, बहुत बढ़िया!" खुशीमें मैंने कहा, पर तभी मुझे लगा कि मकान मुसकरा रहा है और इस मुसकराहटमें मिठास नहीं, व्यंग है।

क्यों भाई, तुम क्यों हँसे?" मैंने धीरेसे पूछा।

"यों ही तुम्हारे मित्रकी बात सुनकर हँसी आ गई।" उसने कहा।

'उसमें हँसनेकी क्या बात है?"

"हँसनेकी क्या बात? हुँः, अरे भाई, उसमें हँसनेके सिवाय और क्या बात है? कहता है मेरा घर पसन्द आया?"

"तो फिर?"

"तो फिर क्या?—मेरा घर-मेरा घर! यही बात इसका बाप कहा करता था और यही उसका बाप! दोनों जाने अब कहाँ गये? दोनोंकी तस्वीरें ज़रूर मेरी दीवारोंपर टँगी हैं, जिन्हें मेरे छोटे-से छेदमें रहनेवाली हज़ारों दीमकोंमेंसे एक नन्हीं-सी दीमक कुछ पलोंमें चाट सकती है!"

मैंने सहमे-से उसकी तरफ़ देखा।

वह अब भी मुसकरा रहा था, पर मैंने अनुमान किया कि मैं उसकी मुसकराहटके बोझसे दबा-सा जा रहा हूँ।

अन्धोंका जलूस

देशके सुदूर-प्रदेशमें ताड़पत्रपर शताब्दियों पूर्व लिखी एक धर्म-पुस्तक सुरक्षित है।

पढ़ता उसे कोई नहीं। आनेवाले उसका दर्शन करते, उस पर पुष्प-अक्षत चढ़ाते और मठाधीशको दक्षिणा अर्पण करते हैं।

दर्शन देते-देते और भक्तोंकी पूजा स्वीकार करते-करते पन्द्रह शताब्दियोंमें बेचारा ताड़पत्र जीर्ण-शीर्ण हो चला।

राजधानीके संग्रहालयाध्यक्षने मठाधीशको लिखा कि आप पुस्तकको यहाँ ले आयँ, तो वैज्ञानिक पद्धतिसे जीर्ण ताड़पत्रको फिरसे नवजीवन दिया जा सकता है।

प्रस्तावने विवादका रूप ले लिया। कुछ लोग इसे माननेके पक्षमें थे और कुछ इसे शास्त्रका अविनय कहते थे।

कुछ वर्षोंमें पुस्तककी स्थिति और भी खराब हो गई और तब अनिच्छापूर्वक यह प्रस्ताव मान लिया गया।

फर्स्टक्लासका एक डिब्बा रिज़र्व किया गया और एक शानदार जलूसके साथ नगरके अत्यन्त प्रतिष्ठित पुरुष नंगे पाँव, नंगे सिर, अपने कन्धों पर उस धर्म-पुस्तकको स्टेशन तक ला, उसे धोये-पोंछे और पुष्प-पल्लवोंसे सजाये डिब्बेमें प्रतिष्ठित कर गये।

रास्तेमें हर स्टेशनपर हज़ारों नर-नारी उस पुस्तकका दर्शन करने आते रहे। पुस्तक पुष्पोंसे आच्छादित थी इसलिए किसीके दर्शन तो क्या होते; कुछ पुष्पार्पण और शेष पुष्प-प्रक्षेप अवश्य कर पाये।

यों यह धर्मपुस्तक राजधानीमें आ पहुँची और एक विशाल जलूसके

साथ अत्यन्त प्रतिष्ठित पुरुषोंके कन्धों पर आरूढ़ संग्रहालयकी ओर चले। जय-जयकार होता रहा, फूल बरसते रहे।

एक बड़े बाज़ारमें जलूस पहुँचा, तो एक अन्धे भिखारीने पाससे जाते एक नागरिकसे पूछा—"यह किनका जलूस है भाई?"

नागरिकने उत्तर दिया—"अन्धोंका।"

"अरे, अन्धोंका जलूस निकल रहा है और हमें खबर भी नहीं!" आश्चर्यसे चिल्लाकर अन्धेने कहा।

"माफ़ करना सूरदास, मैं कहना भूल गया था कि आँखोंके अन्धोंका नहीं, विश्वासोंके अन्धोंका यह जलूस है।"

"विश्वासोंके अन्धे? ये क्या होते हैं जी?"

"आँखोंके अन्धे होते हैं शारीरिक अपाहिज और विश्वासोंके अन्धे मानसिक अपाहिज; बस दोनोंमें यही अन्तर है।"

अन्धा अपनी अनदेखती आँखें फाड़े नागरिककी ओर देख रहा था, पर नागरिक अब वहाँ नहीं था।

रजकण

लक्ष्मीपुत्रने मार्गमें पड़े रजकणसे अभिमानके स्वरमें कहा—

"मैं लक्ष्मीपुत्र हूँ। वैभवकी आकर्षक किरणें मेरे चारों ओर छिटका करती हैं, गुणीजन मेरे चारों ओर मँडराया करते हैं। मैं अनेकोंका भाग्य-विधाता और सम्मान तथा सुखका अक्षय अधिपति हूँ।"

उपेक्षाके स्वरमें रजकणने कहा—"मैं रजकण हूँ। इस पथमें आनेवाले सन्तों और दीवानोंका चरण-चुम्बनकर अपनेको कृतार्थ किया करता हूँ। यही मेरी निधि है। हृदयके आँचलमें अपना यह सुख बटोरे मैं आनन्दके राग गाता रहता हूँ।

लक्ष्मीपुत्रने अहंकारका तीखापन कण्ठमें ले, घृणाके स्वरमें कहा—"यह सब दरिद्रीके मन समझानेकी बातें हैं। लोमड़ीके लिए अंगूर खट्टे होते ही हैं क्षुद्र!"

अपने कोमल स्वरको ज़रा पैनाकर रजकणने कहा—"यहीं पड़े-पड़े मैंने अनेक लक्ष्मीपुत्रोंको भिखारीके रूपमें जाते देखा है अभागे अभिमानी!"

दियासलाई

जली हुई दियासलाईकी एक सींक; काली-कुरूप और निरर्थक; जलते दीपकके प्रकाशमें देखा सुरुचिपूर्ण सज्जित कमरेके द्वारमें पड़ी है।

सोचा—दिया जलाकर किसीने उसे बाहर फेंका होगा कि यहाँ आ गिरी। जो न हो पाया, वह मुझे करना था—मैंने उसे उठा लिया कि एक मद्धम, पर बेचती-सी कराह कानोंमें पड़ी।

"क्यों, क्या बात है?" मैंने पूछा।

"बात कुछ नहीं। इस भवनमें सुन्दरता और उपयोगिताके लिए ही स्थान है। कभी मुझमें भी ये गुण थे, तो मेरे लिए भी यहाँ स्थान था। अब मेरा सौन्दर्य और शक्ति मुझे बलपूर्वक घिस-रगड़कर अपहरण की जा चुकी है। इसलिए हरेककी उँगलियाँ मुझे दूरसे दूर फेंकनेको ही मचमचाती हैं।" तड़पकर उसने कहा।

तड़पनने मुझे करुणासे भर दिया और मैंने उसे उँगलियोंसे मुट्ठीमें लेकर कहा—"सचमुच तुम्हारे साथ बहुत अन्याय हुआ है!"

मेरी सहानुभूतिसे द्रवित हो उसने पूछा—"तुम किस लोकके शृंगार हो देव?"

हँसकर मैंने कहा—"मैं इसी लोकका एक मर्त्य मानव हूँ—क्यों?"

"यह भी क्या मेरे लिए विश्वासकी बात हो सकती है कभी?"—

जिज्ञासाके बाद विश्वासके स्वरमें उसने कहा—"यह भावुकता तो इस व्यापारी संसारकी चीज़ नहीं है देव!"

"मैं मातृभाषाका एक साधारण पुजारी हूँ। कवियोंके चरणोंमें बैठकर भावुकताका यह थोड़ा-सा प्रसाद मुझे प्राप्त हुआ है।" मैंने लाड़से कहा।

भला क्यों ?

राजेश्वर और रामेश्वर दोनों पड़ौसी ।

राजेश्वर अध्यापक तो रामेश्वर वकील ।

रामेश्वरने खरीद ली, एक सुन्दर-सुन्दर मोटर । वह ड्राइवरके झमेले पालता नहीं, खुद अपनी गाड़ी चलाता है ।

एक दिन राजेश्वरकी पत्नीको दौरा पड़ गया, तो वह डाक्टरको बुलाने चला । रामेश्वरने उसे रोककर कहा—"ठहरो, गाड़ी निकालता हूँ !"

"आप क्यों कष्ट करते हैं, मैं ताँगा ले लूँगा !" राजेश्वरने नम्र होकर कहा ।

"क्या पागलपनकी बातें कहते हो !" रामेश्वरने लाड़से कहा और वे गाड़ी निकाल लाये ।

× × ×

एक दिन बाहरसे राजेश्वरके कोई मित्र आये थे । वे उन्हें साथ लिये बाहर आये, तो रामेश्वर सदाकी भाँति अपने मुवक्किलोंसे जुटा था ।

राजेश्वरने कहा—"भाई, ज़रा गाड़ी निकालो, हम नहर जाना चाहते हैं । लौटते हुए तो हम घूमते चले आयेंगे !"

रामेश्वरने पैनी आँखोंसे उन्हें देखा और तब बोले—"जी, शुक्रिया; ताँगा स्टैण्ड सामने ही है !"

और वे फिर अपने काममें लग गये ।

काँचका जौहरी

उसके पास पूँजीकी कमी है, पर उसका अभिमान पूँजीपतियोंसे भी बड़ा है। आज जहाँ उसकी दूकान है, वहाँ पहले खाली मैदान था। उस मैदानमें उसकी काँचकी दूकान दूरसे ही चमचमाया करती थी।

अब उस मैदानमें जौहरी बाज़ार खुल गया है। एक-एक दूकानमें इतने क़ीमती रत्न हैं कि उनकी वह क़ीमत भी नहीं आँक सकता। उसकी दूकान अब भी रंग-बिरंगी काँच-वस्तुओंसे भरी है। बड़ी मुश्किलसे वह दो-चार मामूली रत्न ला पाया है।

जौहरी जानते हैं—वह काँचवाला है। वह भी जानता है कि मैं काँचवाला हूँ, पर दावा वह हमेशा जौहरी होनेका ही करता है। जब कहीं दूकानोंकी क़ीमत खुलने लगती है, तो वह मैदानपर नहीं आता और अपनी जगमगाती गद्दीपर बैठे-ही-बैठे बड़बड़ाता रहता है—"कलके आये ये लड़के अपनेको बड़ा जौहरी समझते हैं! पर जब कहीं इनका पता भी न था, तबसे मेरी दूकान मशहूर है।"

यह कल्पना-चर्चित प्राचीनता ही उसका अभिमान है। पूँजी और प्रतिष्ठाकी कमीके स्थानमें इसे रखकर वह तोलता है और वह अपनी प्राचीनताकी घोषणाका एक भी अवसर नहीं चूकता।

उसे मालूम है कि लोग पीछे उसकी हँसी उड़ाते हैं; इसलिए वह शक्की भी हो गया है और झक्की भी। दो आदमी कहीं बैठे कुछ भी बात क्यों न कर रहे हों, उसे अपने विरुद्ध षड्यन्त्रकी रचना दिखाई दे जाती है।

कहीं किसी जौहरीकी चर्चा हो, वह ख़ुदाई फ़ौजदारकी तरह आ कूदता है। कहीं जौहरियोंका ज़िक्र हो, वह उनका प्रतिनिधित्व करनेको

बेचैन रहता है। किसी-न-किसी बहाने जौहरियोंको अपनी दूकानपर इकट्ठा करनेकी धुन उसे सदा सवार रहती है।

चमकको ही वह जवाहरकी सबसे बड़ी क़ीमत मानता है। उसके पास खूब चमकीले काँच हैं। जनताकी रुचिका उसे खूब पता है। जैसा गाहक हो, उसे वैसी ही चीज़ वह दिखाता है।

जौहरियोंके यहाँ गाहक कम आते हैं, रुपया अधिक। उसके यहाँ गाहक खूब आते हैं, रुपये कम। वह रुपयोंकी संख्यापर कभी बात नहीं करता। कोई उसे उस बातपर घुमा-फिराकर ले भी आता है, तो वह कन्नी काट जाता है। हाँ, गाहकोंकी संख्याके नारे वह हमेशा लगाये रहता है—"अरे भाई, क्या करें, रातके ११ बजे तक गाहक पीछा ही नहीं छोड़ते। हमारे पड़ौसमें दूसरे भी तो जौहरी हैं, पर जाने क्या बात है कि गुवालका मेला इस गुलामकी ही दूकानपर जुड़ता है।"—

समझदार लोग उसकी कमज़ोरीको जानते हैं और उसपर दया करते हैं। वह इस दयाको ही प्रशंसा मानता है। लोग जौहरी भी उसे कहते हैं और काँचका जौहरी भी। दोनोंमें उपहासकी पुट रहती है, पर एकसे वह फूल उठता है और दूसरेसे हो जाता है छछून्दर; जिससे उसका कुरूप चेहरा और भी बदरूप हो उठता है।